श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद भावधारा की एकमात्र हिंदी मासिका

विवेक शिखा

वर्ष ९ | अगस्त १९९० | अंक ८

रामकृष्ण निलयम जयप्रकाश नगर छपरा–८४१३०१ (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

५१. श्री बी० भी० नागोरी—कलकत्ता (पं० बंगाल)
५२. श्री पवन कुमार वर्मा—समस्तीपुर (बिहार)
५३. श्री चिनुभाई भलाभाई पटेल—खेड़ा (गुजरात)
५४. श्री एस० सी० डाबरीवाला—कलकत्ता (प० बं०)
५५. श्री गोपाल कृष्ण दत्ता—जयपुर (राजस्थान)
५६. श्री बृजेश चन्द्र बाजपेयी—जयपुर (राजस्थान)
५७. श्री बनवारी लाल सर्राफ—कलकत्ता (प० बं०)
५८. श्रीमती गौरी चट्टोपाध्यायएलेन बंज, इलाहाबाद
५९. श्री वसन्त लाल जैन—कैथल (हरियाणा)
६०. डॉ० श्यामसुन्दर बोस—दूधपुरा बाजार (समस्तीपुर)
६१. श्री केशव दत्त वशिष्ठ—हिसार (हरियाणा)
६२. श्री के० सी० बागरी—कलकत्ता (प० बंगाल)
६३. मधु खेतान—कलकत्ता (प० बंगाल)
६४. प्रधान अध्यापिका—डोरांडा गर्ल्स हाई स्कूल, रांची
६५. रामकृष्ण मिशन स्टूडेन्ट्स होम—मद्रास
६६. श्री विनयशंकर सिन्हा—दाऊदपुर, छपरा
६७. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम—इलाहाबाद
६८. श्रीमती मीरा मिश्रा—इलाहाबाद
६९. स्वामी शान्तिनाथानन्द—रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद
७०. श्रीमती उषा श्रीकांत रेगे—दादर, बम्बई
७१. कुमारी इन्दु जोशी उत्तरकाशी (उ० प्र०)
७२. श्री के० अनूप—रोइंग (अरुणाचल प्रदेश)
७३. गंगा सिंह महाविद्यालय—छपरा (बिहार)
७४. डॉ० उषा वर्मा—छपरा (बिहार)
७५. श्री विजय कु०प्रभाकर राव शंखपाल (महाराष्ट्र)
७६. श्री विजय कुमार सिंह, झुमरीतिलैया (बिहार)
७७. श्री रघुनन्दन सेठी, कोटा, (राजस्थान)
७८. श्री भृगुनाथ प्रधान, जमशेदपुर (बिहार)
७९. डॉ० अमरेन्द्र कुमार सिंह, छपरा (बिहार)
८०. श्री रविशंकर पारीक ललित, जयपुर (राजस्थान)
८१. श्री सनत कुमार दुबे - सिवनी मालवा (म०प्र०)
८२. डॉ. आशीष कु. बनर्जी-रामकृष्ण मिशन, वाराणसी
८३. श्री चन्द्र मोहन—टुंडला (उ. प्र.)
८४. श्री बी. एल गुप्ता—मानवार (म. प्र.)
८५. डॉ. टी. जे. हेमनानी—नागपुर (महाराष्ट्र)
८६. डॉ. एस. एम. सिंह—इलाहाबाद
८७. श्री श्याम सुन्दर चमरिया - बम्बई
८८. श्री जयप्रकाश गुप्ता परौना, सारण (बिहार)
८९. श्री अमरेश कल्ला जयपुर, (राजस्थान)
९०. श्री प्रफुल्ल तुगारे पुणे (महाराष्ट्र)

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष — ६ | १९९० — अगस्त | अंक — ८

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक
डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	३०० रु०
वार्षिक	२५ रु०
रजिस्टर्ड डाक से	४० रु०
एक प्रति	३ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप ईश्वर का ध्यान करो, तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा। यह आनन्द वास्तव में नित्य ही विद्यमान है, किन्तु अज्ञान के द्वारा आच्छन्न होकर वह मानो लुप्त हो गया है। इन्द्रिय योग विषयों के प्रति तुम्हारा आकर्षण जितना कम होगा, ईश्वर के प्रति तुम्हारा अनुराग उतना ही अधिक बढ़ेगा।

(२)

यह ठीक है कि बाघ के भीतर भी परमेश्वर विद्यमान हैं, पर इस कारण उसके सामने नहीं चले जाना चाहिए। इसी प्रकार यद्यपि अत्यन्त दुर्जन व्यक्तियों के भीतर भी ईश्वर विराजमान हैं, तथापि उनकी संगति करना उचित नहीं।

(३)

सृष्टि के लिए शिव तथा शक्ति दोनों की आवश्यकता है। कुम्हार सूखी मिट्टी से घड़ा नहीं बना सकता, पानी भी चाहिए। इसी प्रकार शक्ति की सहायता के बिना केवल शिव के द्वारा सृष्टि नहीं हो सकती।

(४)

अगर घड़े में कहीं एक छोटा-सा भी छेद रहे तो उसका सारा पानी धीरे-धीरे बह जाता है। उसी प्रकार साधक के भीतर यदि थोड़ी भी संसारासक्ति रह जाए तो उसकी सब साधना व्यर्थ हो जाती है।

श्रीकृष्णाष्टकम्

—श्रीमत् शङ्कराचार्य

भजे व्रजैकमण्डनं समस्तपापखण्डनं,
स्वभक्तचित्तरंजनं सदैव नन्दनन्दनम् ।
सुपिच्छगुच्छमस्तकं सुनादवेणुहस्तकं
अनंगरंगसागरं नमामि कृष्णनागरम् ॥१॥

मनोजगर्वमोचनं विशाललोललोचनं
विधूतगोपशोचनं नमामि पद्मलोचनम् ।
करारविन्दभूधरं स्मितावलोक सुन्दरं
महेन्द्रमानदारणं नमामि कृष्णवारणम् ॥२॥

कदम्बसूनकुण्डलं सुचारुगण्डमण्डलं
व्रजाङ्गनैकवल्लभं नमामि कृष्णदुर्लभम्
यशोदया समोदया सगोपया सनन्दया
युतं सुखैकदायकं नमामि गोपनायकम् ॥३॥

सदैव पादपङ्कजं मदीय मानसे निजं
दधानमुक्तमालकं नमामि नन्दबालकम् ।
समस्त दोष शोषणं समस्त लोक पोषणं
समस्त गोप मानसं नमामि नन्दलालसम् ॥४॥

भुवो भरावतारकं भवाब्धि कर्णधारकं
यशोमती किशोरकं नमामि चित्तचोरकम् ।
दृगन्तकान्तभङ्गिणं सदासदालसङ्गिनं
दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम् ॥५॥

गुणाकरं सुखाकरं कृपाकरं कृपापरं
सुरद्विषन्निकन्दनं नमामि गोपनन्दनम् ।
नवीन गोपनागरं नवीन केलिलम्पटं
नमामि मेघसुन्दरं तडित्प्रभालसत्पटम् ॥६॥

समस्तगोपनन्दनं हृदम्बुजैकमोदनं
नमामि कुञ्जमध्यगं प्रसन्नभानुशोभनम् ।
निकामकामदायकं दृगन्त चारुसायकं
रसालवेणुगायकं नमामि कुञ्जनायकम् ॥७॥

विदग्ध गोपिकामनोमनोज्ञ तल्प शायिनं
नमामि कुञ्जकानने प्रवृद्धिवह्निपायिनम् ।
यदा तदा यथा तथा तथैव कृष्णसत्कथा
मया सदैव गीयतां तथा कृपा विधीयताम् ।
प्रमाणिकाष्टकद्वयं जपत्यधीत्य यः पुमान्
भवेत्सनन्दनन्दने भवे भवे सुभक्तिमान् ॥८॥

ब्रज-बालाएँ और उनके प्रेमास्पद श्रीकृष्ण

—स्वामी शशांकानन्द
प्राचार्य, समाज सेवा शिक्षण मंदिर
बेलुड़ मठ

वैष्णव साधना पद्धति के अनुसार भक्त के लिए श्रीभगवान् के साथ पाँच प्रकार के सम्बन्ध स्थापन की बात कही गयी है जिन्हें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भाव के नाम से साधकगण जानते हैं। शान्त-भाव में भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान का मनोभाव, दास्य में सेवक-सेव्य का भाव, सख्य में मित्र का मनोभाव, वात्सल्य में माँ-पुत्र या पिता-पुत्र का भाव एवं मधुर भाव में प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इन पाँचों में मधुर भाव साधक को भगवान के अत्यन्त समीप ले आता है और फिर शीघ्र ही साधक और भगवान् एक हो जाते हैं। यद्यपि पाँचों भाव ही साधक को अद्वैत भूमि पर ले जाने की सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु मधुर भाव में साधक अपने भगवान को सम्पूर्ण मन प्राण से बिना किसी सामाजिक बाधाओं और बन्धनों के प्रेम करता है, और उनमें अपने मन का नियोग कर पाता है।

ब्रज-बालाओं ने भगवान श्रीकृष्ण के साथ कोई न कोई एक भाव स्थापित किया था कि श्रीराधिका में पाँचों ही भाव पाये जाते हैं और उन्हें हम महा-भाव कहते हैं।

ब्रज-बालाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-माधुरी का पान कर उन्मत्त रहा करती थीं। उनके मतवाले मन में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कुछ भी न था। प्रेम की मधुर झंकार में सामाजिक बन्धनों का कोलाहल सुनाई न पड़ता था। लोकाचार की ओर तो उनका मन जाता भी न था। गोप-बालाओं ने उद्धवजी से कहा था, "मन तो एक ही है जो सर्वदा भ्रमर बनकर श्रीकृष्ण के चरणों में मँडराता रहता है तब योग-साधना किस मन से करें।" ब्रज-गोपियों के पास इतना समय ही कहाँ था कि अन्य कोई चिन्ता कर पाएँ। उनका तन, मन और आत्मा सभी कुछ श्रीकृष्णमय हो चुका था। श्रीकृष्ण का सुख ही उनका परम सुख था। श्रीमद्भागवत्-पुराण में श्रीकृष्ण एवं ब्रज-बालाओं के मधुर सम्पर्क का बहुत ही अलौकिक एवं पवित्र वर्णन मिलता है। दुर्भाग्यवश विषय-बुद्धि-युक्त व्यक्ति इसकी पवित्रता की धारणा न कर सकने के कारण नाश को प्राप्त होते हैं।

किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जो इन्द्रियातीत अनुभूति की धारणा कर सकते हैं, वे इस दिव्य भाव की पवित्रता एवं कामगन्धशून्यता को जानकर इस भाव द्वारा प्रभु-प्राप्ति करते हैं। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम इतना तीव्र एवं पवित्र था कि उनकी झलकमात्र से गोपियाँ अपनी देह की सुध-बुध खो बैठती थीं। उनका मन इन्द्रियातीत सुख का आस्वादन करने लगता था। इन्द्रिय सुख का तो वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता।" लीलाधारी भगवान् का ब्रजवास तो मात्र ८ वर्ष की आयु तक ही था। ८ वर्ष की आयु में तो वे ब्रज-लीला समाप्त कर मथुरा चले गये। और उसके बाद कभी भी ब्रजभूमि नहीं लौटे। भला आठ वर्ष की आयु में उनका गोपियों के साथ क्या अपवित्र सम्बन्ध हो सकता था? श्रीकृष्णमयी गोपियों का भगवान् के साथ यथार्थ सम्बन्ध तो वही समझ सकता है जिसका मन

इन्द्रियातीत भूमि में विचरण करता हो।

सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण ही इन्द्रियातीत प्रेम का रसास्वादन करने के लिए स्वयं ही श्रीकृष्ण, श्रीराधा और अन्यान्य ब्रज-बालाओं के रूप में अवतरित हुए थे। दिव्य प्रेम का सर्वश्रेष्ठ भाव ही श्रीराधा या महाभाव है और उनकी हजारों व लाखों वृत्तियाँ या भाव ही ब्रज गोपियाँ हैं। प्रत्येक साधक को, जो इस पथ का अनुयायी है, इन भावों से गुजरते हुए अन्त में महाभाव तक पहुँचना है। जो भी साधक गोपियों की भाँति पूर्ण पवित्रता से तन्मय होकर श्रीकृष्ण को प्रेम करेगा वही उनकी कृपा से महाभाव को प्राप्त करेगा अर्थात् उनसे अभिन्न हो जाएगा। इसके लिए साधक को अपने स्वार्थ का पूर्णतया परित्याग करके श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने की चेष्टा करनी होगी। महाभाव का साधक अपने प्रभु की सेवक की भाँति सेवा करता है, पत्नी की भाँति उन्हें प्रसन्न रखता है और माँ की भाँति गोपाल की सुविधाओं को जुटाता है।

गोपियों की निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ साधक में होना आवश्यक हैं :—

(१) प्रियतम का निरन्तर चिन्तन।

(२) उनकी प्राप्ति के लिए परम एवं अतृप्त व्याकुलता।

(४) प्रियतम के दोषों को न देखना।

निरन्तर चिन्तन

ब्रज-बालाओं का अपना कुछ भी न था। सभी कुछ श्रीकृष्ण का था। उनकी वस्तु उन्हें समर्पित कर उन्हें वे रिझाना चाहती थीं। उनके जीवन की प्रत्येक क्रिया श्रीकृष्ण के लिए ही थी और प्रत्येक घटना श्रीकृष्ण को लेकर ही थी। जाग्रत अवस्था में वे उनके लिए कार्य करतीं, स्वप्न में उनकी दिव्य लीला देखतीं और सुषुप्ति में उनकी शान्त एवं एकान्त उपस्थिति का अनुभव करती थीं किन्तु, ये तीनों अवस्थाएँ तुरीय अवस्था से किसी भी प्रकार कम नहीं थीं क्योंकि उनमें अज्ञान का लेश मात्र भी न था।

रात्रि में दूध जमाते समय वे ध्यान रखती थीं कि दही बढ़िया जमे ताकि उससे बढ़िया मक्खन निकले जिसे खाकर श्रीकृष्ण तृप्त हों। दही एवं मक्खन तैयार होने पर वे उसे इतनी ऊँचाई पर लटकाती थीं जिससे श्रीकृष्ण आसानी से ले सकें। वे फिर सारे दिन बाट जोहतीं, कब श्रीकृष्ण अपनी मित्र-मंडली सहित दही-मक्खन चुराने आएँगे, मटक-मटक कर दही-मक्खन खाएँगे और उनके अँगना में थिरक-थिरक कर नाचेंगे। तब दही-मक्खन से लिपटे मुख पर मृदु मुस्कान का सौन्दर्य देखकर गोपियों का मन तृप्त हो उठेगा और वे दौड़कर उन्हें हृदय से लगा लेंगी। श्रीकृष्ण की प्रसन्नता ही उनके जीवन का उद्देश्य था।

श्रीकृष्ण भी केवल ब्रज-बालाओं की भक्ति से सन्तुष्ट होकर उन पर कृपा करने जाते थे अन्यथा उनके यहाँ दूध, दही, मक्खन का क्या अभाव था? नन्द बाबा के नौ लाख गौएँ थीं। गोपियों के इस निरन्तर चिन्तन के भाव को ही श्रीकृष्ण ने सर्व-श्रेष्ठ बताया है। श्रीमद्भागवत्गीता में वे कहते हैं,

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्य युक्ता उपासते
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।

(गीता १२/२)

— 'जो भक्त मुझ परमेश्वर में अपने मन को एकाग्र कर नित्य युक्त होकर सदा मुझमें स्थित हुआ, श्रद्धा सम्पन्न रहकर मेरी उपासना करते हैं वे मेरे मत में श्रेष्ठ हैं।'

भगवत्प्राप्ति के लिए परम एवं अतृप्त व्याकुलता

भक्तियोग का प्रथम सोपान है—भक्ति और फिर भाव, महाभाव और प्रेम होता है। साधारण जीव के लिए महाभाव और प्रेम की प्राप्ति दुःसाध्य है, किन्तु जिसे महाभाव की प्राप्ति हो

जाती है, उसे ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है – उसी का मानव जीवन सफल हो जाता है। ईश्वर के लिए परम व्याकुलता एवं अगाध प्रेम होने से महाभाव हो सकता है। जिस प्रकार जल में डूबा हुआ व्यक्ति सांस लेने के लिए छटपटाता है, उसी प्रकार ईश्वर के लिए प्राण व्याकुल हो उठने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है।

पूर्णिमा की रात्रि में यमुना के तट पर श्रीकृष्ण ने अपनी बाँसुरी की दिव्य मधुर तान छेड़कर उन ब्रज वालाओं का आह्वान किया था, जिनका मन श्रीकृष्ण को समर्पित हो चुका था, जो श्रीकृष्ण के बिना एक पल भी जीना न चाहती थीं (कृष्णगृहीत मानसः)। ब्रज-बालाएँ जिस अवस्था में थीं उसी अवस्था में मंत्रमुग्ध सी वंशी-ध्वनि की ओर बढ़ती जा रही थीं। बेसुध गोपियाँ नेत्र बंद किये मानो स्वयं ही महान चुम्बक श्रीकृष्ण की ओर खिंची जा रही थीं। श्रीमद्भागवत् में वर्णन मिलता है, "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् ब्रजौक सः।"

– अर्थात् गोपों ने अपनी-अपनी पत्नियों को अपने पास ही लेटी हुए देखा। गोपियों को लीला करने के लिए स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर से परे दिव्य भावमय शरीर प्राप्त हुआ था।'

श्रीकृष्ण समर्पित मनवाले साधक के अन्तर-वन में भी जब उनकी वंशीध्वनि गूंजित हो उठती है तब उसकी सभी वृत्तियाँ उसी ध्वनि की ओर धावित होती हैं। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, 'भगवान् को इन भौतिक चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। आध्यात्मिक साधन के समय साधक प्रेम तनु, प्रेम-चक्षु, प्रेमकर्ण इत्यादि की प्राप्ति करता है।" ब्रज-बालाएँ भी प्रेममय शरीर को लेकर श्रीकृष्ण के समीप पहुँची। गोपियों का अगाध प्रेम एवं तीव्र व्याकुलता देख श्रीकृष्ण गोपियों के साथ उसी प्रकार लीला करने लगे जिस प्रकार एक बालक अपनी परछाई से खेलता है। श्रीमद्भागवत् में कहा है, 'रेमे रमेशो ब्रज सुन्दरी-भिर्यथार्भकः स्वप्रतिविम्वविभ्रमः।" – 'जैसे बालक दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर उसके साथ खेलता है उसी प्रकार रमापति भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रज-सुन्दरियों के साथ नृत्य लीला की। इस दिव्य लीला को रास कहते हैं। श्रीकृष्ण तो रसमय हैं, "रसो वै सः"। वह दिव्य लीला जिसमें एक ही रस असंख्य बनकर उनका आस्वादन करता है, उसे रास कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण भी अनेक होकर प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य लीला करने लगे। श्रीकृष्ण की वंशी के मधुर स्वरों पर ब्रज-बालाओं के घुँघरू ताल देते हुए थिरक उठे। इस दिव्य संगीत से आकाश गूँज उठा और उनके दिव्य वस्त्राभूषणों से समस्त विश्व आलोकित हो उठा।

प्रेम दीवानी गोपियाँ बेसुध-सी श्रीकृष्णानन्द में डूबी हुई थीं कि अचानक श्रीकृष्ण उन्हें निर्जन स्थान में छोड़कर अन्तर्धान हो गये। जल के बिना तड़फड़ाती हुई मछली के समान ब्रज-बालाएँ श्रीकृष्ण-विरह से व्याकुल हो उठीं और श्रीकृष्ण को ढूँढने लगीं। श्रीकृष्णोन्माद में वे अपने को भूल गयीं। उनका अपना अस्तित्व श्रीकृष्ण में लय हो गया। कभी वे रोतीं तो कभी हँसतीं, कभी श्रीकृष्ण जैसे हाव-भाव बनाकर उनकी नकल करतीं। कभी समाधि अवस्था में उनसे वार्तालाप करतीं तो कभी स्वयं को ही श्रीकृष्ण समझने लगतीं। तभी महाभावमयी गोपियों के बीच श्रीकृष्ण पुनः मुस्कराते हुए प्रकट हुए।

प्राणशून्य गोपियों में दिव्य-जीवन का संचार हुआ, नेत्र दिव्य-ज्योति से प्रकाशित हो उठे और हृदय में आनन्द की लहरें दौड़ने लगीं। उनका रोम-रोम इस मधुर मिलन से हर्षित हो उठा। अहंशून्य दिव्य-प्रेम एवं पूर्ण शरणागति ने उन्हें श्रीकृष्णप्रेमामृत के अनन्त सागर में डूबो दिया और वे अपना क्षुद्र व्यक्तित्व खो बैठीं जो श्रीकृष्ण में विलीन हो चुका था। यह भी ब्रज-बालाओं की

पावन साधना जिसके द्वारा वे अद्वैतानुभूति कर चुकी थीं।

ब्रज-बालाओं के भाव द्वारा अद्वैत की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए अपने को एक गोपी मान लेना होगा एवं गोपियों की भाँति श्रीकृष्ण से प्रेम करना होगा। श्रीरूप, सनातन एवं जीव गोस्वामी आदि महाचार्यों ने सारा जीवन श्रीकृष्ण की पति रूप से आराधना की थी और इसीलिए स्वयं को राधा के स्थान में समझने के कारण ही सम्भवत: उन्होंने श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा का विग्रह नहीं रखा। वे कहते के थे, "वृन्दावन में एक ही पुरुष हैं श्रीकृष्ण बाकी सब गोपियाँ।" युगावतार भगवान् श्रीरामकृष्ण देव ने भी अपने साधना-जीवन के समय राधा रानी के रूप में माधव चिन्तन किया था और वे परमानुभूति करने में सफल भी हुए थे।

प्रियतम में दोष दृष्टि का अभाव

प्रेम की पराकाष्ठा में प्रेमास्पद के दोष नहीं दीखते। श्रीकृष्ण का नटखट स्वभाव, दूध, दही और मक्खन की चोरी करना, गोपियों की हाँडी फोड़ देना इत्यादि दोषों में भी गोपियों को परमानन्द मिला। साधारण व्यक्ति में चोरी एक दोष है परन्तु श्रीकृष्ण में वही चोरी लीला कहलाती है और उसका अनुध्यान करने से भव-बन्धन कट जाते हैं।

नरदेव श्रीरामकृष्ण (२)

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

दर्शितप्रेम विजृम्भितरंगम्

श्रीरामकृष्ण के लिए जिस अगले विशेषण का उपयोग स्वामी विवेकानन्द ने किया है वह है; दर्शित प्रेमविजृम्भितरंगम्। अर्थात् जिसने प्रेम के विकास या विस्तार के विभिन्न रूप दिखाये हैं। शक्ति समुद्र समुत्थतरंगम् के बाद इस विशेषण का प्रयोग तात्पर्यपूर्ण है। परमात्मा शक्ति का ही सागर नहीं है, वह तो सत् चित् और आनन्द तीनों का अखंड, अथाह सागर है। भक्त उसे करुणासिन्धु, कृपासागर आदि नामों से पुकारते हैं। स्वयं स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण की आरती में उनको "चिरउन्मद-प्रेमपाथार" कहा है।

मानव की ईश्वर सम्बन्धी धारणा के विकास का एक इतिहास है। इसके अध्ययन से यह पता चलता है कि ईश्वर के प्रेममय रूप की धारणा उसकी अन्य धारणाओं की तुलना में उत्तर-कालीन है। सर्वप्रथम तो मनुष्य ईश्वर को एक शक्तिशाली देवता ही समझता है। आदि मानव की मान्यता का ईश्वर उसी की तरह क्रूर, निर्दयी और लड़ाकू था। उसमें मानव से कहीं अधिक लेकिन उसी प्रकार की शक्तियाँ थीं। मानव के विकास के साथ ही साथ उसकी ईश्वर सम्बन्धी धारणाएँ भी विकसित होती गयीं। ईश्वर पहले एक कबीले की रक्षा करने वाले, तदनन्तर एक न्याय कर्त्ता या दंड देने वाला ईश्वर में विकसित होता है। अन्त में मानव एक प्रेममय, करुणामय ईश्वर की कल्पना करता है। यही मानव की ईश्वर विषयक अन्तिम एवं उच्चतम मान्यता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर में शक्ति और ऐश्वर्य के साथ ही साथ प्रेम, करुणा और कृपा भी है, तथा अवतार में इन दोनों की अभिव्यक्ति होती है।

प्रेम :—प्रेम का अर्थ है, "प्रियस्य भावम्"। जो वस्तु हमें सुख प्रदान करती है, वह हमें प्रिय होती है। उसके प्रति हमारा जो भाव होता है; वह प्रेम कहलाता है। धन, मकान, मोटर, घड़ी, फाउन्टेनपेन आदि जड़ पदार्थों से लेकर, मित्र, बन्धु, पुत्र, कलत्र, आदि सभी चेतन वस्तुएँ प्रिय हो सकती हैं। लेकिन इनमें प्रेम करने वाले का सुख ही मुख्य लक्ष्य होता है। यही कारण है कि वृहदयारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि पति पति के लिए प्रिय नहीं होता बल्कि आत्मा के लिए प्रिय होता है। पत्नी-पत्नी के लिए प्रिय नहीं होती बल्कि आत्मा के लिए प्रिय होती है। संसार की सभी वस्तुएँ उन-उन वस्तुओं के लिए प्रिय नहीं होतीं बल्कि आत्मा के लिए प्रिय होती हैं।

लेकिन एक प्रेम ऐसा भी होता है जिसमें प्रेमास्पद का सुख ही अभीष्ट होता है। वस्तुत: ऐसा प्रेम ही सच्चा निःस्वार्थ प्रेम है, तथा प्रेम कहलाने योग्य है, अन्य सब तो स्वार्थ की श्रेणी में ही आते हैं। प्रेम के पात्र को उसी के लिए प्रेम करने वाला सच्चा प्रेम दुर्लभ है। सभी सांसारिक प्रेम सम्बन्धों में कहीं न कहीं किसी न किसी मात्रा में स्वार्थ की गंध अवश्य रहतीहै। कहीं-कहीं कर्तव्य-बोध से प्रेरित सेवा देखी जाती है, लेकिन इसमें प्रेम और आनन्द का अभाव और एक प्रकार की नीरसता तथा शुष्कता रहती है। प्रेम करुणा और दया से भी ऊँची चीज है। दया और करुणा में ऊँच-नीच का बोध रहता है, लेकिन प्रेम में आत्मीयता, अपनत्व, रहता है। स्वामी विवेकानन्द ने प्रेम को एक त्रिकोण की संज्ञा दी है जिसके तीन कोण हैं : भय का अभाव, प्रतिद्विता का अभाव, तथा प्रेम का ही उच्चतम आदर्श होना। सच्चे प्रेम में प्रेमास्पद से किसी प्रकार का भय नहीं होता, न प्रेमास्पद के वियोग का ही भय होता है। प्रेम में प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती। ऐसा नहीं लगता कि प्रेमास्पद को मेरे अतिरिक्त और कोई प्रेम न करे, या प्रेमास्पद किसी और को प्रेम न करे। प्रेम स्वार्थ पूर्ति, मोक्ष, सुख या अन्य किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं होता। वही साध्य और साधन भी होता है। वही चरम लक्ष्य और उद्देश्य होता है। इस प्रकार का निःस्वार्थ, पूर्ण-अनासक्त और सर्वस्व का त्याग करने वाला प्रेम पूर्ण निष्पाप, स्वार्थ गन्धहीन अवतारी महापुरुष ही प्रदर्शित कर संसार के प्राणियों को सिखा सकते हैं।

वही प्रेम जब भगवान की ओर प्रवाहित होता है, तब वह भक्ति कहलाता है। जब अवतार एक भाव की तरह लीला करते हैं, तब वे भक्ति के उत्कृष्टतम विभिन्न रूपों को प्रकट करते हैं। श्रीरामकृष्ण की भगद्भक्ति के विषय में स्वामीजी ने इसी स्तोत्र में एक और विशेषण का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या आगे की जायेगी। श्रीरामकृष्ण के माध्यम से जिस ईश्वरीय प्रेम का प्राकट्य भक्तों के प्रति हुआ था, यहाँ उसी की चर्चा की जायेगी। स्वयं स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण को L-O-V-E अर्थात् प्रेम के घनीभूत विग्रह की संज्ञा दी है।

श्रीरामकृष्ण के संपर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता था कि श्रीरामकृष्ण उसे ही सबसे अधिक प्रेम करते हैं। श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य स्वामी प्रेमानन्दजी स्वयं एक अत्यन्त प्रेमी संन्यासी थे, जिनके प्रेम से आकृष्ट हो अनेक लोग उनके पास आया करते थें। लेकिन उनका कहना था कि श्रीरामकृष्ण की तुलना में उनका प्रेम एक शतांश भी नहीं था। वे अपनी जन्मदात्री माता के सामने भी यह कहने से नहीं हिचके थे कि श्रीरामकृष्ण का प्रेम माता-पिता के सन्तान के प्रति प्रेम से भी कहीं अधिक है। माता-पिता के प्रेम में भी थोड़ा बहुत स्वार्थ निहित रहता है, कि बड़ा होकर सन्तान हमारी सेवा करेगा, लेकिन श्रीरामकृष्ण के प्रेम में इस प्रकार की भावना का लेशमात्र भी नहीं था।

सामान्यत: सांसारिक प्रेम दो व्यक्तियों के बीच परस्पर स्थूल शारीरिक आकर्षण में परिवर्तित होकर रह जाता है, अथवा आसक्ति और बन्धन का रूप ले लेता है। लेकिन वास्तविक प्रेम इससे अधिक जीवन्त, जागरूक एवं स्वस्थ मन:स्थिति से संयुक्त होता है। इसमें प्रेमास्पदके प्रति जिम्मेदारी आदर, और संरक्षण के भावों के साथ ही साथ प्रेमास्पद के व्यक्तिगत स्वभाव का पूर्ण ज्ञान भी रहता है। जिम्मेदारी और संरक्षण का भाव माता के सन्तान के प्रति प्रेम में दिखाई देता है। माँ सन्तान को खिलाने-पिलाने, उसकी सेवा करने आदि में व्यस्त रहती है। इससे उच्चतर प्रेम गुरु का शिष्य के प्रति होता है जो शिष्य को माध्यमिक संरक्षण प्रदान करता है। इसके कई मर्मस्पर्शी दृष्टांत श्रीरामकृष्ण के जीवन में देखने को मिलते हैं।

श्रीरामकृष्ण का अपने साधक-शिष्यों को निर्देश था कि वे रात्रि को कम आहार लें, जिससे वे रात को तथा प्रात: काल ठीक से ध्यान कर सकें। तदनुसार, गुरु के निर्देशों को अक्षरश: पालन करने में सदा तत्पर बालक लाटू ने अचानक अपना आहार कम कर दिया। फलस्वरूप उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। श्रीरामकृष्ण से यह बात छिपी नहीं रही। उन्होंने लाटू को उनके साथ, उनके पास बैठ कर भोजन करने का आदेश दिया। और तब वे एक स्नेहमयी माता की तरह स्वयं अपनी थाली से लेकर घी लाटू के भोजन पर डाल कर उसे खिलाने लगे। कभी-कभी लाटू साधना में इतने डूब जाते थे कि उन्हें खाने-पीने की सुधबुध ही नहीं रहती थी। तब श्रीरामकृष्ण विभिन्न बहानों के द्वारा उन्हें अपने पास बुला कर भोजन कराते थे।

प्रिय के आध्यात्मिक जीवन के संरक्षण का उदाहरण युवक योगेन के प्रसंग में प्राप्त होता है। एक बार एक हठयोगी का दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ। योगेन उससे आकृष्ट हो उससे कामजय की कोई हठयोग की प्रक्रिया सीखना चाहते थे। लेकिन श्रीरामकृष्ण जानते थे कि हठयोग से देहात्मबोध प्रबल हो जाता है, जो साधना में बाधक है। अत: उन्होंने योगेन को हठयोगी के पास जाने से मना किया लेकिन जब वह नहीं माने, तो उत्तम गुरु की तरह उन्होंने उसे जबरदस्ती खींचकर हठयोगी के सान्निध्य से हटाया। पहले तो योगेन ने सोचा कि श्रीरामकृष्ण ईर्ष्या परवश हो ऐसा कर रहे हैं, लेकिन बाद में उन्हें श्रीरामकृष्ण के उपदेश की सत्यता का प्रमाण प्राप्त हुआ।

संरक्षण से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, प्रेमास्पद के आध्यात्मिक विकास और व्यक्तित्व के गठन के सम्बन्ध में जिम्मेदारी का भाव। इसी उत्तरदायित्व के बोध से प्रेरित हो श्रीरामकृष्ण अपने शिष्यों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे तथा मां जगदम्बा से उनके आध्यात्मिक विकास के लिए कातर प्रार्थना करते थे। यही बोध उन्हें बार-बार कलकत्ता आकर उन भक्तों से भेंट करने को प्रेरित करता था जो उनके पास दक्षिणेश्वर नहीं जा सकते थे। नरेन्द्र की आर्थिक कठिनाई के समय उन्होंने कुछ व्यक्तियों से उसे सहायता करने को कहा। वे नरेन्द्र के लिए दर-दर भीख माँगने तक को तैयार थे। इसी प्रेम ने नरेन्द्र को सदा-सदा के लिए उनका दास बना दिया था।

लेकिन प्रेमास्पद के विशिष्ट स्वभाव के ज्ञान, तथा उसके प्रति सम्मान के भाव के बिना प्रेम के बोझ अथवा बन्धन बन जाने की संभावना रहती है। सम्मान अथवा आदर का अर्थ है, व्यक्ति जैसा है, उसे, उसकी वैयक्तिक विशेषताओं सहित स्वीकार करना। और यह तभी संभव है, जब व्यक्ति के गुण-दोषों, व्यक्तिगत विशेषताओं एवं मानसिक गठन का पूरा-पूरा ज्ञान हो। इस ज्ञान के अभाव में प्रेमास्पद की सेवा और संरक्षण उसके कल्याण के बदले हानि कर सकते हैं। "भावमुख" में प्रतिष्ठित होने के कारण श्रीरामकृष्ण में प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक गठन और भावों आदि को जानने की अद्भुत क्षमता थी। इस तरह घनिष्ठ

रूप से व्यक्ति-विशेष को जानने के बाद उनके लिए उसे उसके भावानुरूप आध्यात्मिक पथ विशेष पर परिचालित करना आसान हो जाता था। वे किसी के भाव को नष्ट नहीं करते थे। और नहीं अपने भावों को किसी पर थोपने का प्रयत्न करते थे। वह जहाँ है, जिस स्तर पर है, वहीं से उसे उठाने का प्रयत्न करते थे और उसके लिए सबसे स्वाभाविक पथ पर अग्रसर होने में सहायता प्रदान करते थे। इसके अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं।

श्रीरामकृष्ण की भानजी लक्ष्मी देवी एक अत्यन्त धर्मप्राणा महिला थीं; जो कीर्त्तनादि के समय भावविभोर हो गीत-नृत्यादि किया करती थीं। लेकिन माँ सारदा का स्वभाव बिलकुल विपरीत था। वे अत्यन्त शान्त, एवं लज्जाशीला थीं। श्रीरामकृष्ण ने इन दोनों को भिन्न प्रकार के उपदेश दिये। लक्ष्मी देवी को भजन-कीर्तन के लिए प्रोत्साहित किया और माँ सारदा के लिए ऐसी व्यवस्था की कि वे अपनी लज्जाशीलता की रक्षा करती हुई रह सकें। पुरूषोचित कर्मठता की धनी गौरी माँ को श्रीरामकृष्ण ने महिलाओं के लिए एक आश्रम प्रारंभ करने का आदेश दिया।

श्रीरामकृष्ण का उनके शिष्यों के प्रति प्रेम और आदर उनकी अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न ज्ञान मात्र के कारण नहीं था। वस्तुतः वे सभी में परमात्मा का दर्शन करते थे। एक दिन सेवक लाटू शिव का ध्यान करते-करते गहरी समाधि में डूब गया। गर्मी के कारण उसका शरीर पसीने से लथपथ हो रहा था। यह देख श्रीरामकृष्ण स्वयं उसे पंखा झलने लगे। लाटू के प्रतिवाद करने पर उन्होंने कहा कि वे उसे नहीं, उसमें आविर्भूत भगवान को पंखा झल रहे हैं। इसी तरह एक बार जब नरेन्द्र ने उनके प्रति श्रीरामकृष्ण के अत्यधिक प्रेम के विरुद्ध प्रतिवाद किया तो श्रीरामकृष्ण ने माँ जगदम्बा के आदेश से यही उत्तर दिया कि वे उसमें भगवान को देखते हैं, इसीलिए उसे प्रेम करते हैं। सभी की अन्तरात्मा, सबमें निहित परमात्मा को प्रेम करने के कारण ही सभी को ऐसा प्रतीत होता था कि श्रीरामकृष्ण उन्हें सबसे अधिक प्रेम करते हैं।

इस सन्दर्भ में माँ सारदा का एक कथन स्मरणीय है। एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि श्रीरामकृष्ण का संसार के सभी प्राणियों के प्रति मातृभाव था। संसार का पालन करने वाली जगन्माता ने अपनी सन्तानों के प्रति प्रेम और करुणा से विगलित हो श्रीरामकृष्ण का रूप धारण किया था। सामान्य जीव जगन्माता, परम-पिता के साथ अपने इस सम्बन्ध को भूल कर असंख्य यातनाएँ एवं कष्ट भोगता है। लेकिन अवतार इस सम्बन्ध को नहीं भूलते। वे अपने जीवन द्वारा जीव को उसके स्वरूप तथा परमात्मा के साथ उसके सम्बन्ध की याद दिलाने के लिए देह धारण करते हैं। वे उसे वास्तविक प्रेम का स्वाद चखाते तथा स्वयं निःस्वार्थ कार्य करना सिखाते हैं।

श्रीरामकृष्ण प्रेम की एक महान तरंग थे, जो करुणासागर पर उत्थित हुई थी। भक्तों के प्रति उनका यह प्रेम-विजृम्मण अपने आप में अपूर्व है।

❀

हमारी प्रथम और प्रधान आवश्यकता है—चरित्र गठन।

—स्वामी विवेकानन्द

सेवा-प्रारम्भ

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(यह एक कथा है, उस समय की, जब इस देश में देश के ही लोगों या संस्था द्वारा किसी प्रकार की सेवा प्रचलित न हुई थी। यह कार्य रामकृष्ण मिशन शुरु करता है! यह कथा जिस घटना के आधार पर है, वह बंगाल में घटी थी। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य स्वामी विवेकानन्दजी के गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजी इस घटना के चरितनायक हैं। ये उस समय वहाँ भ्रमण कर रहे थे। यह सेवा इन्होंने की थी। इसके बाद संघबद्ध रूप से रामकृष्ण मिशन लोक-सेवा करता है। इसके बाद देश में अन्यान्य सेवा दल संगठित होते हैं। स्वामी अखण्डानन्दजी की इस सेवा के समय स्वामी विवेकानन्दजी थे। बाद को स्वामी अखण्डानन्दजी मिशन के प्रेसिडेण्ट हुए थे तीसरे। अब इनका देहावसान हो गया है।—सं०)

अल्प दिन हुए,
भक्तों ने रामकृष्ण के चरण हुए।
जगी साधना
जन-जन में भारत की नवाराधना।
नयी भारती
जागी जन-जन की नयी आरती।
घेर गगन को अगणन
जागे रे चन्द्र तपन—
पृथ्वी-ग्रह-तारागण ध्यानाकर्षण,
हरित-कृष्ण-नील-पीत
रक्त-शुभ्रज्योति-नीत
नव-नव विश्वोपवीत, नव-नव साधन।

खुले नयन नवल रे—
ऋतु के-से भिन्न सुमन
करते ज्यों विश्व-स्तवन
आमोदित किये पवन भिन्न गन्ध से।
अपर ओर करता विज्ञान घोर नाद-
दुर्धर शत-रथ-घर्घर विश्व-विजय-वाद।

स्थल-जल है समाच्छन्न
विपुल-मार्ग-जाल-जन्य,
तार-तार समुत्सन्न देश-महादेश,
निर्मित शत लौहयन्त्र
भीमकाय मृत्यु तन्त्र
चूस रहे अन्त्र, मन्त्र रहा यही शेष।

बढ़े समर के प्रहरण,
नये-नये हैं प्रकरण,
छाया उन्माद मरण-कोलाहल का,
दर्प जहर, जर्जर नर,
स्वार्थपूर्ण गूँजा स्वर,
रहा है विरोध घहर इस-उस दल का।

बँधा व्योम, बढ़ी चाह,
बहा प्रखरतर प्रवाह,
वैज्ञानिक समुत्साह आगे,
सोये सौ-सौ विचार
थपकी दे बार-बार
मौलिक मन को सुधार जागे!
मैक्सिम-गन् करने को जीवन-संहार
हुआ जहाँ, खुला वहीं नोबेल-पुरस्कार!
राजनीति नागिनी
डँसती है, हुई सभ्यता अभागिनी।

जितने ये यहाँ नवयुवक—
ज्योति के तिलक
खड़े सहोत्साह,
एक-एक लिये हुए प्रलयानल-दाह।

श्री 'विवेक,' 'ब्रह्म', 'प्रेम' 'शारदा'*
ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म-धर्म नर्मदा,—
बहीं विविध अध्यात्मिक धाराएँ
तोड़ गहन प्रस्तर की काराएँ
क्षिति को कर जाने को पार
पाने को अखिल दिशा का समस्त सार।
गृही भी मिले,
आध्यात्मिक जीवन के रूप यों खिले
अन्य घोर भीषण रव-यान्त्रिक झंकार—
विद्या का दम्भ,
यहाँ महामौन भरा स्तब्ध निराकार—
नैसर्गिक रंग।
बहुत काल बाद
अमेरिका-धर्म महासभा का निनाद
विश्व ने सुना, काँपी संसृति की थी दरी,
गरजा भारत का वेदान्त-केसरी।
श्रीमत्स्वामी विवेकानन्द
भारत के मुक्त-ज्ञानछन्द
बँधे भारती के जीवन से
गान गहन एक ज्यों गगन से,
आये भारत, नूतन शक्ति ले जगी
जाति रह रँगी।
स्वामी श्रीमद अखण्डानन्दजी
एक ओर प्रति उस महिमा की,
करते भिक्षा फिर निस्सम्बल
भगवा-कौपीन-कमण्डलु-केवल;
फिरते थे मार्ग पर
जैसे जीवित विमुक्त ब्रह्म-शर।
इसी समय भक्त रामकृष्ण के—
एक जमींदार महाशय दिखे।
एक-दूसरे को पहचानकर
प्रेम से मिले अपना अति प्रिय जन जानकर।
जमींदार अपने घर ले गये,
बोले—"कितने दयालु रामकृष्ण देव थे!
आप लोग धन्य हैं,
उनके जो ऐसे अपने, अनन्य हैं।"—
द्रवित हुए। स्वामीजी ने कहा—
"नवद्वीप जाने की है इच्छा,—
महाप्रभु श्रीमच्चैतन्य देव का स्थल
देखूँ, पर सम्यक् निस्सम्बल
हूँ इस समय, जाता है पास तक जहाज,
सुना है कि छूटेगा आज।"
धूप चढ़ रही थी बाहर को
जमींदार ने देखा, घर को
फिर घड़ी, हुए उन्मन
अपने आफिस का कर चिन्तन;
उठे, गये भीतर
बड़ी देर बाद आये बाहर,
दिया एक रुपया, फिर फिरकर
चले गये आफिस को सत्वर।

स्वामीजी घाट पर गये,
"कल जहाज छूटेगा" सुनकर
फिर रुक नहीं सके,
जहाँ तक करें पैदल पार—
गंगा के तीर से चले।
चढ़े दूसरे दिन स्टीमर पर
लम्बा रास्ता पैदल तै कर।

आया स्टीमर, उतरे प्रान्त पर, चले,
देखा, हैं दृश्य और भी बदले,—
दुबले-दुबले जितने लोग,
लगा देश-भर को ज्यों रोग,
दौड़ते हुए दिन में स्यार
बस्ती में—बैठे गीध महाकार,
आती बदबू रह-रह,
हवा बह रही व्याकुल कह-कह;
कहीं नहीं पहले की चहल-पहल,
कठिन हुआ यह, जो था बहुत सहल।

सोचते व देखते हुए
स्वामीजी चले जा रहे थे।

*स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी शारदानन्द

इस समय एक मुसलमान बालिका
भरे हुए पानी मृदु आती थी पथ पर, अम्बुपालिका;
घड़ा गिरा, फूटा,
देख बालिका का दिल टूटा,
होश उड़ गये
काँपी वह सोच के,
रोयी चिल्लाकर,
फिर ढाढ़ मार-मारकर
जैसे माँ-बाप मरें हों घर।

सुनकर स्वामीजी का हृदय हिला,
पूछा—"कह, बेटी कह, क्या हुआ ?"
फफक-फफककर
कहा बालिका ने—"मेरे घर
एक यही बचा था घड़ा,
मारेगी माँ सुनकर फूटा।"
रोयी फिर
वह विभूति कोई।

स्वामीजी ने देखी आँखें—
गीली वे पाँखें,
करुण स्वर सुना,
उमड़ी स्वामीजी में करुणा।

बोले—"तुम चलो
घड़े की दूकान जहाँ हो,
नया एक ले दें,"
खिली बालिका की आँखें।

आगे-आगे चली
बड़ी राह होती बाजार की गली,
आ कुम्हार के यहाँ,
खड़ी हो गयी घड़े दिखा।

एक देखकर
पुख्ता सबमें विशेखकर
स्वामीजी ने उसे दिला दिया,
खुश होकर हुई वह विदा।

मिले रास्ते में लड़के
भूखों मरते
बोली वह देख के—"एक महराज
आये हैं आज
पीले-पीले कपड़े पहने,
होंगे उस घड़े की दूकान पर खड़े
इतना अच्छा घड़ा
मुझे ले दिया;
जाओ, पकड़ो उन्हें, जाओ
ले देंगे खाने को, खाओ।"
दौड़े लड़के,
तब तक स्वामीजी थे बातें करते,
कहता दूकानदार उनसे—"हे महाराज,
ईश्वर की गाज
यहाँ है गिरी, है विपत बड़ी,
पड़ा है अकाल
लोग पेट भरते हैं
खा-खाकर पेड़ों की छाल।

कोई देता नहीं सहारा,
रहता हर एक यहाँ न्यारा,
मदद नहीं करती सरकार,
क्या कहूँ, ईश्वर ने ही दी है मार
तो कौन खड़ा हो ?"
इसी समय आये वे लड़के,
स्वामीजी के पैरों आ पड़े।
पेट दिखा, मुँह को ले हाथ,
करुणा की चितवन से, साथ
बोले—"खाने को दो
राजों के महाराज तुम हो।"
चार आने पैसे
स्वामीजी के तब तक थे बचे।

चूड़ा दिलवा दिया,
खुश होकर लड़कों ने खाया, पानी पिया,
हँसा एक लड़का, फिर बोला—
"वहाँ एक बुढ़िया भी है बाबा,
पड़ी झोंपड़ा में मरती है, तुम देख लो
उसे भी, चलो।"
कितना यह आकर्षण

स्वामीजी के उठे चरण ।
लड़के आगे हुए;
स्वामीजी पीछे चले ।
खुश हो नायक ने आवाज दी,
"बुढ़िया री, आये हैं बाबाजी ।"
बुढ़िया मर रही थी
गन्दे में फर्श पर पड़ी
आँखों में ही कहा
जैसा कुछ उस पर बीता था ।
स्वामीजी पैठे
सेवा करने लगे,
साफ की वह जगह,
दवा और पथ्य फिर देने लगे
मिलकर अफसरों से
भीख माँग बड़े-बड़े घरों से ।

लिखा मिशन को भी
दृश्य और भाव दिखा जो भी ।

खड़ी हुई बुढ़िया सेवा से,
एक रोज बोली—"तुम मेरे बेटे थे उस जन्म के
स्वामीजी ने कहा—
"अबके की भी हो तुम मेरी माँ ।"

(रचना काल : ७ दिसम्बर, १९३७ । 'निराला रचनावली' खण्ड १ से साभार)

त्याग एवं वैराग्य [1]

—स्वामी रामदेवानन्द

(त्याग धर्मजीवन का आधार है । इसी की सुदृढ़ भित्ति पर धर्मजीवन रूपी प्रासाद खड़ा किया जा सकता है । अतएव प्रत्येक धर्म-पिपासु को, खासकर उनको जो पूर्ण त्याग का जीवन बिताना चाहते हैं, त्याग के महत्त्व, इसकी अनिवार्यता, इसके औचित्य आदि विषयों की सही एवं स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए । त्याग के इन्हीं पक्षों को लेकर यह प्रश्नोत्तर माला तैयार की गयी है । प्रत्येक प्रश्न का समाधान सन्त एवं शास्त्र के वचनों के द्वारा ही करने की चेष्टा की गयी है ।)

जिज्ञासा :—मानव जीवन को दुर्लभ क्यों कहा गया है ?

प्रतिवचन :—चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद ईश्वर की असीम कृपा से यह मानव जीवन मिलता है ।

आकर चारि लच्छ चौरासी ।
योनि भ्रमत यह जिव अविनासी ।
कबहुँक करि करुना नर देही ।
देत ईस बिनु हेतु सनेही ।।

— श्री रामचरितमानस, उ० का० ४३/२-३

और इस मानव जीवन को पाकर ही जीव जन्म-मरण रूपी महाव्याधि से मुक्त हो सकता है, समस्त दुःख-द्वन्द्वों से पार होकर अक्षय आनन्द का अधिकारी हो सकता है । इसीलिए मानव जीवन को दुर्लभ कहा गया है । इसी कारण देवगण भी मानव-देह प्राप्त करने हेतु लालायित रहते हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानव-शरीर को 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' की संज्ञा दी है । उन्होंने इसके दुर्लभत्व का बखान करते हुए लिखा है—

बड़े भाग मानुष तन पावा ।
सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा ।।[1]

* * *

नर तन सम नहि कवनिउ देही ।
जीव चराचर जाचत तेही ।।[2]

आचार्य शंकर ने भी अपने 'विवेक चूड़ामणि' ग्रन्थ में लिखा है—

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रह हेतुकम्,
मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महापुरुष संश्रायः ।।[3]

जिज्ञासा :—तो, मानव जीवन का परम उद्देश्य धर्म साधन ही है ?

प्रति० :—निःसन्देह । सभी संत, महापुरुष एवं शास्त्र इस बात की एक स्वर से घोषणा करते हैं कि मानव जीवन का चरम उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति ही है । वेद में है—'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' मानव शरीर धर्म-साधन के लिए ही है । जो ऐसा न करके विषयों के पीछे दौड़ते हैं, वे मूढ़ हैं । ऐसे लोग व्यर्थ में अपना दुर्लभ जीवन गँवा देते हैं । साधु-सन्तों ने ऐसे लोगों की कड़े शब्दों में निन्दा की है । शंकराचार्य ने कहा है—

इतः को न्वस्ति मूढ़ात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥[4]

गोस्वामीजी ने ऐसी मूढ़ात्माओं के बारे में कहा है—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं ।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥[5]

महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है—

जातास्त एव जगनिजन्तवः साधु-जीविताः ॥
ये पुनर्नेह जायन्ते, शेषा जठरगर्दभाः ॥
योगवाशिष्ठ (वैराग्य प्रकरण)

—अर्थात् इस संसार में जिस व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होगा (अर्थात् जो मुक्तिलाभ के अधिकारी हैं), वही व्यक्ति सत्यजात हैं, उनका ही जीवन साधु जीवन एवं सफल है, बाकी सभी व्यक्ति मानवोदर जात गर्दभ के समान हैं ।

अतएव इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर जितना शीघ्र हो सके मुक्ति साधन कर लेना चाहिए । विषय भोग तो सब योनियों में लगा ही हुआ है ।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहु सम्भवान्ते ।
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय
विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥[6]

जिज्ञासा :—यदि ईश्वर प्राप्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है तो इसकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है ?

प्रति :—इसका एकमात्र उपाय है समस्त भोगों की इच्छा को त्यागकर सन्त शिरोमणि गुरुदेव की शरण में जाकर उनके उपदेश किये हुए विषयों में समाहित होकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करना ।

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान
संन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः सन् ।
सन्तं महान्तं समुपेत्य देशिकं
तेनोपदिष्टार्थं समाहितात्मा ॥[7]

किन्तु यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिए कि अधिकारी (योग्य) व्यक्ति को ही फल-सिद्धि होती है; देश, काल आदि उपाय भी उसमें जरूर सहायक होते हैं ।

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः ।
उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन्सहकारिण ॥[8]

जिज्ञासा :—कौन व्यक्ति अधिकारी होता है ?

प्रति० : जो सदसद्विवेकी, वैराग्यवान्, शमदमादि षट्सम्पत्ति युक्त और मुमुक्षु हो वही व्यक्ति अधिकारी होता है ।

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासा योग्यता मता ॥[9]

जिज्ञासा :—वैराग्य क्या है ?

प्रति० :—वैराग्य का शाब्दिक अर्थ है राग का अभाव । महर्षि पतंजलि के अनुसार समस्त देखे अथवा सुने गये विषयों से वितृष्णा के वशीकार को वैराग्य कहते हैं ।[10] इससे ही मिलती-जुलती परिभाषा वेदान्तसार में दी गयी है : 'इहामुत्रफल-भोग विरागः ।[11] नाम-यश, कामिनी-कांचन आदि इहलोक की समस्त भोग-वस्तुओं तथा स्वर्गादि के अमृतादि वैभवादि दिव्य भोगों के प्रति सम्पूर्ण विरक्ति वैराग्य है । वैराग्य का यह नकारात्मक

पक्ष हुआ। इसका विधेयात्मक पक्ष है—ईश्वर के प्रति अनुराग। अतः वैराग्य की पूर्ण परिभाषा हुई : ऐहिक एवं पारलौकिक समस्त भोगों के प्रति विराग तथा ईश्वर के प्रति अनुराग।

आचार्य शंकर के अनुसार मुमुक्षु व्यक्ति का प्रधान साधन साधना 'वैराग्य' ही है। जिसमें वैराग्य तीव्र होता है उसी में शम-दमादि षट्सम्पत्तियाँ फलवान होती हैं।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥[12]

वैराग्य के बिना आध्यात्मिक जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हतः।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः ॥[13]

क्योंकि बिना वैराग्य के त्याग नहीं हो सकता और बिना त्याग के अमृतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

न प्रजया धनेन चेज्या त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः

जिज्ञासा : त्याग क्या है ?

प्रति० : त्यागः स्नेहस्य यत्त्यागो विषयाणां तथैव च।[15]

—अर्थात् विषयासक्ति एवं विषय दोनों के त्याग का नाम ही त्याग है। जब बुद्धिमान पुरुष श्रुति, स्मृति एवं युक्ति के द्वारा जान जाते हैं कि समस्त विषय भोग अनित्य, तुच्छ एवं बन्धन के कारण हैं, तो उनके मन में इन विषयों को त्यागने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसका नाम मानसिक त्याग है। अतएव मानसिक त्याग एक मनोवृत्ति मात्र है। इसमें विषयासक्ति का तो त्याग होता है परन्तु विषयों का नहीं। मन की इस इच्छा के अनुरूप जब विषयों का भी त्याग कर दिया जाता है, तब उसे बाह्य त्याग कहते हैं। अतः मानसिक त्याग में विषयासक्ति का त्याग होता है और बाह्य त्याग में विषयों का स्वरूपतः त्याग होता है। मानसिक त्याग एवं बाह्य त्याग दोनों के एक साथ होने पर पूर्ण त्याग होता है। यहाँ पर एक बात जान लेनी चाहिए कि केवल बाह्य त्याग का कोई मूल्य नहीं है। जिसके मन में विषयासक्ति बनी हुई है, वह बाह्यरूप से भले ही बलपूर्वक विषयों का त्याग कर दे, परन्तु इससे उसे कोई लाभ नहीं होगा। इसके विपरीत यदि कोई केवल मानसिक त्याग भी कर सका, तो उसे त्याग का फल जरूर मिलेगा। परन्तु पूर्ण त्यागी वही है जिसने मानसिक एवं बाह्य दोनों प्रकार का त्याग किया है। वही त्याग का आदर्श है।

जिज्ञासा : धर्मजीवन में त्याग क्यों अनिवार्य है।

प्रति० :—सभी धर्म तथा सभी सच्चे धार्मिक आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि बिना त्याग के ईश्वरानुभूति अथवा दैवी प्रेम की प्राप्ति असंभव है। पूर्ण त्याग नहीं हो सके तो कम से कम मानसिक त्याग तो होना ही चाहिए क्योंकि 'अनात्मा और दृश्य-जगत् का ज्ञान तथा उसके प्रति आसक्ति ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वरीय प्रेम की विरोधिनी है।' अतः जबतक हमारे भीतर ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की तनिक भी इच्छा रहेगी, हमें ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान श्रीकृष्ण उद्धवजी से कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥[16]

अर्थात् जो पुरुष निरन्तर विषय चिन्तन करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है, और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें लीन हो जाता है।

त्याग की अनिवार्यता पर एक और दृष्टिकोण से विचार करें। हम सभी देहाबद्ध हैं, हममें अभी देहात्म बुद्धि है। लेकिन हमारा असली

स्वरूप है नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा। हम सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। परन्तु हम अपने स्वरूप को भूल गये हैं। और धर्म के पथ पर चलकर हम अपने इसी स्वरूप को प्राप्ति करना चाहते हैं अर्थात् देहबोध से अपने आप को ऊपर उठाकर आत्मबोध में प्रतिष्ठित करना है। लेकिन इहलौकिक तथा स्वर्गीय सभी विषय भोगों का सम्बन्ध देह (स्थूल अथवा सूक्ष्म) से होने के कारण ये सभी देह-बोध उत्पन्न करने वाले हैं। अतएव सभी विषय-भोग आत्मबोध की प्राप्ति में बाधक हैं। अतएव आत्मोपलब्धि करने वालों के लिए इन्हें त्यागना अनिवार्य है।

जिज्ञासा :—इससे यही स्पष्ट हुआ कि भोग एवं योग कभी एक साथ नहीं हो सकते ?

प्रति० : हाँ, भोग और योग कभी भी एक साथ संभव नहीं है। आज के कुछ तथाकथित धर्म-गुरु भोग एवं योग को एकत्रित करने की चेष्टा कर रहे हैं। हमें इनकी बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। काल की कसौटी पर खरा उतरा जो सिद्धान्त है, हमें उसे ही ग्रहण करना चाहिए। भोग और योग न कभी एक साथ संभव हुए हैं और न भविष्य में ऐसा कभी होगा। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है।

जहाँ, राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहूँ होत नहिं, रवि रजनी इक ठाम॥

अर्थात्, जहाँ कामनाएँ हैं, वहाँ भगवान नहीं होते और जहाँ भगवान हैं, वहाँ कामनाएं नहीं होतीं। जैसे सूर्य और रात्रि कभी एक साथ नहीं रह सकते। (अगले अंक में समाप्य)

१. श्री रामचरितमानस, उ० का०, ४३/४
२. वही, १२०/५
३. विवेक चूड़ामणि, श्लोक सं०—३
४. वही, श्लोक सं०—५
५. श्री रामचरितमानस, उ० का०, ४३/१
६. श्रीमद्भागवत, ११/६/२६
७. विवेक चूड़ामणि, श्लोक सं—४
८. वही, श्लोक सं० – १४
९. वही, श्लोक सं० १७
१०. पंतजली योग सूत्र, १/१५
११. वेदान्तसार, सू—१५
१२. विवेक चूड़ामणि, श्लोक सं०—३०
१३. वही, श्लोक सं—८२
१४. अवधूतोपनिषद्, मं०—६
१५. महाभारत, शान्ति पर्व, १६२/१७
१६. श्री मद्भाभवत, ११/१४/२८

वास्तव में महान वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् तथा एकसम रहता है।

—स्वामी विवेकानन्द

समाज-सापेक्ष चिन्तन के अग्रदूत : स्वामी विवेकानन्द

डा० प्रभा भार्गव
प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग,
डूँगर महाविद्यालय, बीकानेर
(राजस्थान)

स्वामी विवेकानन्द एक महान् अध्यात्मिकता-वादी राष्ट्रनिर्माता, भारतीय संस्कृति के भक्त और नैतिकता के पुजारी थे। वेद और वेदान्त की प्रतिष्ठा करके उन्होंने यह सिद्ध किया कि पश्चिम की तुलना में भारत की भाषा, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, संस्कृति और धर्म कहीं अधिक उन्नत और समृद्ध हैं। जब स्वामीजी भू पर अवतीर्ण हुए, भारत मूल्य संक्रमण की समस्या से जूझ रहा था। धार्मिकपाखण्ड, अन्धविश्वास, जात-पात का भेदभाव आदि विविध सामाजिक बुराइयों ने भारतीय सामाज की श्रेष्ठता और भारतीय संस्कृति की गरिमा पर आघात किया। दूसरी ओर पश्चिम की चकाचौंध ने राष्ट्र को दिग्भ्रमित किया। स्वामी विवेकानन्द ने स्वदेश की समस्याओं को एक तटस्थ प्रेक्षक की तरह नहीं अपितु क्रियाशील चिन्तक की भूमिका में विचारा और उनके समाधान का प्रयास किया।

हम जानते हैं कि स्वामी विवेकानन्द मूलतः राजनीतिक नेता या राजनीतिशास्त्री नहीं थे। अतः उन्होंने कोई व्यवस्थित राजदशन प्रस्तुत नहीं किया किंतु फिर भी उनके वक्तव्यों और लेखोंमें राजदर्शन सम्बन्धी विचार देखने को मिलते हैं। मुख्यतः वे लोककल्याणकारी राजनीति के समर्थक थे और गाँधी के सदृश ही राजनीति को धर्म तथा सार्वभौमिकता के धरातल पर खड़ा करना चाहते थे।

उन्होंने समाज में धर्म का महत्व बतलाते हुए कहा "समाज के पीछे एकमात्र पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण मान्यता बाँधने वाली सम्पूर्ण शक्ति एक और केवल एक है अर्थात् धर्म, आध्यात्मिकता, परलोकवाद। वास्तव में समाज को आर्थिक कल्याण और भौतिक सुख अवश्य ही प्रदान करने चाहिए। परन्तु अंतिम लक्ष्य है आत्मा का विकास और पूर्णता। यह आत्मा मनुष्य के अन्दर मानवता है। अतः मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानवता का साक्षात्कार है। उन्होंने दरिद्रनारायण की पूजा को सबसे बड़ी पूजा माना। वे निर्धनों, पीडितों, पददलितों आदि के प्रति गहरी सहानुभूति रखते थे जिन्हें आगे बढ़ाने के लिए विशेष रूप से इच्छुक थे। उनकी दृष्टि में इनकी अवहेलना राष्ट्रीय पाप है।

स्वामी विवेकानन्द की मान्यता थी कि भारतवर्ष की अधिकांश गरीबी का कारण उच्चवर्ग है जिसने शताब्दियों से जनमानस का निर्बाध रूप से शोषण किया। उन्होंने उच्चवर्ण के अत्याचार और अकर्मण्यता पर प्रहार किया। उच्च जाति अधिक सयम तक इन्हें दबा नहीं सकती चाहे वे इसके लिए कितनी ही कोशिश क्यों न करें। उच्चतर जाति का कल्याण अब इसी में है कि वे निम्न जातियों को उनके यथोचित अधिकार प्राप्त करने में सहायता दें। वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द मानते थे कि प्रकृति में असमानता है तथापि वे सबको समान अवसर के पक्षपाती थे। यदि किसी

को अधिक और किसी को कम अवसर देना है तो निर्बलों को सबलों की अपेक्षा अधिक अवसर देना उचित हैं। उच्चवर्ग को चुनौती देते हुए लिखते हैं "तुम अपने को शून्य में लीन करके अदृश्य हो जाओ और अपने स्थान में नवभारत को उदय होने दो"। उनका उदय हल चालाने वाले किसानों की कुटिया, मछुए, मोचियों, मेहतरों की झोपड़ियों से हो, बनिये की दुकान, रोटी बेचने वालों की मिट्टी के पास से वह प्रकट हो।"

समाज में व्याप्त असमानता और जातिभेद के विषय को दूर करने के लिए उन्होंने कहा "लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमंत्र से दीक्षित होकर ईश्वर के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर तथा गरीबों, पतितों एवं पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत देश में सर्वत्र उद्धार के सन्देश का, समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे"। आगे वे कहते हैं "जीवन के लिए आवश्यक विषयों तथा वाणिज्य, व्यापार तथा कृषि की भी शिक्षा दें। यदि तुम ऐसा नहीं कर सकते तो धिक्कार है, तुम्हारे वेद और वेदान्त के अध्ययन को।" विश्व का बड़े से बड़ा समाजवादी विचारक भी इतनी वेदना से भरकर दरिद्रों और निम्नवर्ग के कल्याण के लिए कर्मरत नहीं हुआ।

स्वामी विवेकानन्द एक असाधारण देशप्रेमी, एक वरेण्य, गणतंत्र प्रेमी एवं महान् मानवतावादी थे। वे मन प्राण से चाहते थे सामाजिक अन्याय का अवसान, सभी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक शोषण, विशेषाधिकार एवं सुविधावाद का विरोध। शायद इसलिए वे समाजवादी देशों में बहुत लोकप्रिय रहें। उन्होंने ही सर्वप्रथम सर्वहारावर्गों के आविर्भाव का स्वागत किया था। वे स्वप्न देखते थे शोषण-मुक्त, श्रेणीहीन, निश्चल एक नवीन समाज के प्रतिष्ठापन का। इस कार्य के लिए उन्होंने धर्म को हथियार के रूप में प्रयुक्त किया था। विलक्षण समाजनायक स्वामी विवेकानन्द ने धर्म को आधार बनाकर निपीड़ित, शोषित एवं अवहेलित मनुष्यों को सामने की पंक्ति में ले आने का प्रयास किया तो इसमें दोष क्या? तथाकथित जिस धर्म की मार्क्स और लेनिन ने निन्दा की है उसकी तो स्वामी विवेकानन्द भी करते हैं। धर्म के नाम पर या धर्म के रूप में जो चलता है वह है पुरोहित मंत्र-तंत्र। इतिहास पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि धर्म की आर में सामन्तशाहों, राजाओं, बादशाहों, उद्योगपतियों एवं धार्मिकों ने निर्धनों की आध्यात्मिक भावनाओं का शोषण अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया। इन्हीं कारणों से मार्क्स को घोषणा करनी पड़ी कि धर्म लोगों के लिए अफीम के समान हैं। लेकिन स्वामीजी की धारणा थी कि धर्म मनुष्य में ही अन्तर्निहित ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति है। स्वार्थ त्याग ही ईश्वरत्व के प्राण है और धर्म है उसकी अभिव्यक्ति। अतः सच्चे धर्म का शोषण के साथ मेल नहीं हो सकता।

मेरी मान्यता है कि मार्क्सीय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस दिशा में रामकृष्ण विवेकानन्द के धर्मदर्शन के बहुत समीप है। स्वामी विवेकानन्द की "काली दी मदर" नामक कविता में माँ काली की जो कालनृत्य कल्पना है वहाँ काली के तांडव नृत्य के प्रत्येक पदाघात से सृष्टि भग्न होकर चूर्ण विचूर्ण होती जा रही है। इसका अभिप्राय, वे पुरानी सामाजिक व्यवस्था के ध्वंस होने पर नवीन समाज के अविर्भाव का आह्वान कर रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द का काली-नृत्य इस प्रक्रिया का प्रतीक हैं।

स्वामी विवेकानन्द को एक विचारधारा धार्मिक अतीन्द्रियवादी कहकर रेखांकित करती है तो दूसरी विचारधारा स्वामी विवेकानन्द की चिन्तन-भावना के साथ मार्क्सीय चिन्तन-भावना का सादृश्य ढूंढकर उन्हें मार्क्सीय कहती हैं। मेरे विचार से स्वामीजी इनमें से कुछ भी नहीं हैं। मार्क्स के दर्शन से उनका परिचय था या नहीं यह विवाद का विषय है। तो भी परिचय होना असंभव

नहीं हो सकता। अन्यान्य यूरोपीय समाज दार्शनिकों की विचारधारा से उनका गहरा परिचय था। वे ग्रीन, गिबन, मिल, स्पेन्सर, ह्यूम, डेस्कार्टस, काण्ट, फिटसे, हीगल, शोपेनहावर, कामटे, डार्विन आदि के साथ नेपोलियन एवं महाक्रान्ति के विचारों से सुपरिचित थे और पाश्चात्य ज्ञान के नव-सुरापान से उन्मुक्त परमहंस से उनका संगम हुआ। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने अपना दर्शन गढ़ा, अपनी स्वयं की मौलिक विचारधारा की भित्ति पर। यूरोप में विकसित हो रहे पूंजीवाद की दुष्प्रवृत्ति से स्वामी विवेकानन्द अत्यधिक निराश हुए। वे नये क्रांतिकारी अराजकतावादी विचारक प्रिंस क्रोपोटिकीन से मिले। समाजवादी विचारों ने उनके मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला। परिणामतः अपने आपको उन्होंने एक समाजवादी कहना प्रारम्भ किया।

उनकी मान्यता थी कि दूसरी मत-प्राणालियों के प्रयोग किये जा चूके है और वे अपूर्ण पायी गयीं। अब इसकी परीक्षा की जाय और नहीं तो कम से कम उसकी नवीनता के कारण ही। इसकी अपेक्षा कि वे ही मनुष्य सदा सुख-दुःख भोगें, यह बेहतर है कि सुख-दुःख का नया बँटवारा किया जाय। इस दुःखमयी दुनिया में प्रत्येक को अवसर देना चाहिए।[12]

स्वामीजी ने वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से समाज में घटने वाली हलचल का सही मूल्यांकन किया। भारतवर्ष में वे पहले विचारक थे जिन्होंने भारतीय इतिहास की समाजशास्त्रीय दृष्टि से यथार्थवादी व्याख्या की और राजनीतिक उथल-पुथल के प्रलयंकारी विप्लवों के मूल में सामाजिक संघर्ष का निरन्तर सूत्र ढूंढ़ निकाला।[13] उनके अनुसार प्राचीन भारत में राजशक्ति और ब्रह्मशक्ति के बीच संघर्ष चलता रहता था। बौद्ध धर्म क्षत्रियों का विद्रोह था, परिणामतः पुरोहितों की शक्ति का ह्रास हुआ और राजशक्ति का उत्कर्ष। इसके पश्चात् कुमारिल, शंकर, रामानुज, पुरोहित शक्ति के उत्कर्ष का प्रयत्न हुआ। मध्ययुग में पुरोहितों ने राजपूतों और सामन्तवाद के सहयोग से अपनी शक्ति को कायम रखने का प्रयास किया जो मुस्लिम काल में कमजोर हो गयी। ब्रिटिश काल में शक्ति के पुनरुत्थान का प्रश्न ही नहीं था। इस प्रकार भारतीय इतिहास की समाजशास्त्रीय व्याख्या अंशतः मार्क्सवादी है। मार्क्सवादी इस अर्थ में कि ब्राह्मण और क्षत्रिय निरन्तर जनता के शोषण में लगे रहे। दलित वर्गों के शोषण की मान्यता मार्क्सवादी है।[14]

सन् १८९६ में मैडम मेरी हेल (लंदन) को लिखे उनके पत्र में एक नवीन समाज की धारणा प्रस्तुत है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्ण एक के बाद एक संसार पर शासन करते हैं। इनमें से प्रत्येक ने अपनी पूर्ण प्रभुत्ता कायम की जिनसे लोगों की भलाई हुई और उन्हें हानि भी। जब ब्राह्मण का राज्य होता है तो पुरोहित समस्त ज्ञान और विचारों को स्वयं में केन्द्रित कर समस्त अधिकार से युक्त हो जाते हैं। क्षत्रिय राज्य क्रूर और अन्यायी होता है परन्तु कला और सामाजिक शिष्टता उन्नति के शिखर पर होती है। वैश्य राज में कुचलने और खून चूसने की प्रवृति भयकर होती है। अन्त में वे लोग जिनके शारीरिक परिश्रम के कारण ही ब्राह्मण को प्रभाव, क्षत्रिय को वीरता और वैश्य को धन प्राप्त होता है का क्या इतिहास है ? ये समाज का प्रधान अंग होते हुए भी सभी देशों में "नीच" कहलाते हैं। भारतवर्ष को छोड़कर अन्य देशों में से कुछ जागृत हो चुके हैं परन्तु उनमें समुचित शिक्षा का अभाव है—परन्तु एक समय ऐसा आयेगा जब प्रत्येक देश के शूद्र (मजदूर) अपनी जन्मजात निम्न प्रकृति और आचार के साथ वस्तुतः वैश्य या क्षत्रिय बने बिना ही और शूद्र रहते हुए भी प्रत्येक समाज में पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करेंगे। इस नयी शक्ति की प्रभातकालीन किरणों का धीरे-धीरे फैलना पश्चिमी संसार में प्रारम्भ हो गया है और विचारशील लोगों

की बुद्धि इस नयी घटना के अंतिम परिणाम को सोच सकने में असमर्थ सी हो गयी है। समाजवाद, विप्लववाद, शून्यवाद और इसी प्रकार के अन्यवाद भविष्य में आने वाली सामाजिक क्रांति के अग्रगामी सेनानी हैं।

स्वामीजी की श्रमिकों के प्रति गहरी सहानुभूति थी। यद्यपि उस समय श्रमिकवर्ग का आन्दोलन एवं संगठन नहीं था पर इसके निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए न केवल स्वतंत्रता अपितु समाजवाद की व्याख्या करते हुए उन्होंने एक उपयोगी सिद्धान्त प्रस्तुत किया। भावी समाज श्रमिक वर्ग द्वारा शासित होगा और यह घटना पहले चीन में होगी। सामन्तवाद एवं साम्राज्यवाद की त्रासदी के बीच जी रहे चीनी लोगों के लिए उनके मन में असीम सहानुभूति थी।[16] उनकी "एराइज एण्ड अवैक" वाणी श्रमजीवी मनुष्य के जागरण का मंत्र है। इसी वाणी के आधार पर रूस में कवितायें रची गई। रूस में न जाकर भी उन्होंने जान लिया था कि वहाँ विप्लव की पृष्ठभूमि तैयार है एवं वहाँ का निपीड़ित एवं शोषित जन-समुदाय स्वैराचारी जार शासन के उच्छेद हेतु प्रस्तुत हो रहा है। उसके साथ ही विश्व के सामाजिक ढाँचे में एक विराट् परिवर्तन आ रहा है और उस परिवर्तन का नेतृत्व पहले रूस में आयेगा। वास्तव में इस अविस्मरणीय मानव ने भारत में समाजवाद का नारा रूस में समाजवादी क्रांति के दो दशकों पूर्व ही दे दिया था।

आज सोवियत रूस की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं के लिए पेरेस्त्रैइका अथवा पुर्ननिर्माण एक ईश्वरीय वरदान माना जा रहा है। देखा जाय तो बहुत पहले स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक और मानवतावादी वेदान्त में यह दृष्टिगोचर होता है। पेरेस्त्रैइका के प्रबल समर्थक विवेकानन्द के चिन्तन से ही प्रभावित हैं। जब वे समाजवाद में गुणवत्ता और सामाजिक जीवन में स्त्री और पुरुषों के भौतिक आध्यात्मिक चरित्र की पुनर्व्याख्या करते हैं। वस्तुतः सिद्धान्त और व्यवहार में पेरेस्त्रैइका, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में मानव मूल्यों को महत्व देते हुए श्रमिक वर्ग को विवादास्पद रूप से प्राथमिकता दे रहे हैं।

स्वामीजी तो श्रमिकों के चहुमुखी विकास पर बल देते थे ताकि वे अपने खोये हुए व्यक्तित्व को पुनः प्राप्त करें। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द की समतापरक समाज की स्थापना दीर्घकालीन प्रयत्नों पर आधारित है जिसकी स्थापना श्रमिकों और शोषितों के समर्थन से सम्भव है।

अतः स्वामीजी ने जीवन के सभी क्षेत्रों में, सभी के लिए समानता की कामना करते हुए एक ऐसे भारत का सपना देखा जहाँ धर्म, जाति या भाषा के आधार पर मनुष्य में भेद न किया जाय। जहाँ धर्म और पौरोहित्य का अत्याचार नहीं, जहाँ लोगों को अपने विकास के लिए समान अवसर प्राप्त हो। समाज के सभी व्यक्तियों को धन, विद्या और ज्ञान का उपार्जन करने के लिए एक समान अवसर मिले। हर क्षेत्र में स्वतंत्रता अर्थात मुक्ति की ओर प्रगति ही मानव के लिए उच्चतर लाभ है। जो सामाजिक नियम इस स्वतंत्रता के विकास के मार्ग में बाधक हैं वे हानिकारक हैं और उनको नष्ट करने का उपाय शीघ्रता से करना चाहिए।

सारतः स्वामीजी के समाजवादी चिन्तन का विकास जिस संदर्भ में हुआ वह यूरोपीय समाजवाद के संदर्भ में कई बातों में भिन्न है। उनकी दृष्टि में समाजवाद आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के पुर्ननिर्माण के साथ क्रूर विदेशी साम्राज्यवाद के बन्धकों से मुक्ति के एक विचार के रूप में विकसित हुआ। औपनिवेश काल में जब भारतीय जनगण का मानवाधिकार पददलित हो रहा था तब स्वामीजी के मानवतावाद ने उसके विरुद्ध

संघर्ष करने को उद्बुद्ध किया था, अपनी मर्यादा, दायित्वबोध और जातीय गौरव के सम्बन्ध में सचेतन किया था। औपनिवेशिकता के विरुद्ध संग्राम में जनगण के ऐक्य की व्यग्र लालसा ने ही उनमें श्रेणी समन्वय की धारणा की सृष्टि की थी। केवल स्वाधीनता संग्राम ही नहीं १९वीं सदी में भारतवर्ष में जो सर्वतोमुखी जागरण हुआ था उसकी प्रक्रिया को स्वामीजी की वाणी और आदर्श ने ही संजीवित और अनुप्राणित किया था। वस्तुतः नवीन भारत गढ़ने वाले स्थपति के रूप में राजा राममोहनराय और महात्मागाँधी की अपेक्षा स्वामी विवेकानन्द का अवदान कहीं अधिक है।

हिन्दी साहित्य में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द

ब्रह्मचारी गौरी शंकर
(विद्या मन्दिर, बेलुड़ मठ)

जब सुबह का सूरज रात्रि की कालिमा को चीरता हुआ निकलता है तो उसके तेज से सर्वत्र आलोक का विस्तार हो जाता है। पर्वत, खाई, ऊँचा, नीचा, नदी, सागर कुछ भी भेद नहीं होता। उसी प्रकार मानव जीवन को आलोकित करने के लिए जीवनदायी संदेश लेकर जब कोई युग-पुरुष धरातल पर अवतरित होता है तो दूर-दूर तक उसके व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। यह तथ्य श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद की जीवन-लीला से अत्यधिक उजागर होता है। उनका जीवन निरन्तर प्रवाहित निर्झरणी की तरह मानवता की प्यास बुझाती रही है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में समकालीन चिन्तकों, विचारकों लेखकों एवं कवियों के ऊपर श्रीरामकृष्ण देव की आध्यात्मिक साधना एवं स्वामी विवेकानन्द की प्रचंड मानवीय शक्तियों का प्रयास बहुत गहराई तक पड़ा है।

हिन्दी के साहित्यकारों में सबसे अधिक प्रभावित होने वाले व्यक्तित्व का नाम है— सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (१८९६-१९६१) जिनकी बहुमुखी प्रतिभा ने सर्वप्रथम भारत के पूर्वांचल से उदित नवीन भास्कर का अभिवादन किया। जब वे कलकत्ता से निकलने वाली हिन्दी साप्ताहिक पत्रिका 'मतवाला' से युक्त होकर कार्य कर रहे थे उसी समय बंगला साहित्य एवं चिन्तन धारा ने उन्हें आकर्षित किया। १९२१ में उन्होंने कलकत्ता से ही प्रकाशित-पत्रिका "समन्यव" के सम्पादकीय विभाग से युक्त होकर कार्य करना आरम्भ किया। इसके लिए जब स्वामी माधवानन्दजी ने अद्वैत आश्रम, मायावती, से हिन्दी के एक योग्य सम्पादक के लिए विज्ञापन करवाया तो निरालाजी ही सबसे उपयुक्त व्यक्ति प्राप्त हुए। बाग बाजार, कलकत्ता, में पहली बार निरालाजी की मुलाकात स्वामी सारदानन्द जी से हुई। स्वामी जी के व्यक्तित्व ने इन्हें इतना अधिक प्रभावित किया कि इनका तन, मन एवं चिन्तन सब-कुछ श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द भाव-धारा से प्लावित हो गया। इसका स्पष्ट प्रभाव उनके द्वारा लिखित लेख "युगावतार भगवान् श्रीरामकृष्ण" में मिलता है।

निराला जी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य स्वामी सारदानन्दजी द्वारा बंगला में लिखित श्रीरामकृष्ण वचनामृत का हिन्दी अनुवाद है। बड़े ही सरल एवं सुबोध शैली में उन्होंने यह अनुवाद किया है।

इससे हिन्दी भाषी लोगों को श्रीरामकृष्णदेव की अमृतरस सुधा की सरिता ही प्राप्त हो गयी है। अति दुर्लभ एवं दुरुह तथ्यों को भी उन्होंने अति सरल शब्दो में बोधगम्य बना दिया है। इसके साथ 'प्राच्य एवं पाश्चात्य' 'आत्मानुभूति' एवं उसके मार्ग तथा 'प्रेम योग' आदि कई पुस्तकों का अनुवाद कर उन्होंने श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा को हिन्दी क्षेत्र के लिए उजागर किया।

स्वामीजी की कविताओं ने कवियों के ऊपर अमिट छाप छोड़ी, इसमें कोई संदेह नहीं। निराला के साथ-साथ पंडित सुमित्रानन्दन पंत (१९००-१९७६) की कविताओं में भी स्वामीजी के चिन्तनों की स्पष्ट झलक मिलती है। पंतजी की कविता "बाल प्रश्न" स्वामीजी के प्रति समर्पित एक अपूर्व स्मरण है। पंतजीने स्वामीजी की कई कविताओं का अनुवाद हिन्दी में किया। स्वामी विवेकानन्द साहित्य का बंगला एवं अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद अपने-आपमें एक दूरूह कार्य था। इस कार्य में पंतजीने विशेष दिलचस्पी दिखाई। उनके सहयोगियों में डा० प्रभाकर माचवे, डा० नर्मदेश्वर प्रसाद, श्री ब्रज-मोहन अवस्थी आदि विद्वानों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी गद्य साहित्य में स्वामीजी के विचारों ने क्रान्ति लायी। हिन्दी कहानियों, उपन्यासों एवं रचनात्मक लेखों में स्वामीजी के मानवतावादी विचारों ने अपूर्व परिवर्तन ला दिया। हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) के उपन्यास जैसे गोदान, सेवाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि आदि ने तो स्वामीजी के उन उद्‌घोषों को प्रति-विम्बित किया है जिसमें उन्होंने दलित मानवता की ईश्वरभाव से पूजा करने के लिए अह्वान किया हैं। स्वामीजी ने कहा था सर्वभुतों के प्रति और विशेषकर अज्ञानी तथा दीनजनों के प्रति अद्भुत सहानुभूति में ही तथागत का महान गौरव सम्मिलित है।" इन विचारों से प्रभावित होकर प्रेमचन्द ने कहा, "......स्वामीजी आज हमलोगों के बीच नहीं है किन्तु उन्होंने जिस आध्यात्मिक आलोक को हमलोगों के लिए प्रज्ज्वलित किया है वह चिरकाल तक जगत को ज्योति प्रदान करता रहेगा।" प्रेमचन्द्र ने अपने उपन्यासों में नायकों को दलित एवं प्रताड़ित वर्ग से लिया है, ताकि दीनों की स्थिति का सही चित्रांकन कर सकें।

हिन्दी के अन्य महान साहित्यकारों में विशेषरूप से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम आता है, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द भावधारा में अपनी भावनाओं को स्वतन्त्रता से प्रवाहित होने दिया। सर्वश्री हजारी प्रसाद जी, श्री श्रीमाँ सारदा के पवित्र जीवन से अत्याधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने लिखा है, "माँ ने अपने पतिदेव की आध्यात्मिक साधना में सर्वभाव से सहयोग किया एवं अपने तपोमय जीवन में उस आदर्श को जिस रूप से प्रस्तुत किया वह भारतीय नारियों के लिए सदा अनुकरणीय रहेगा।"

हिन्दी के विख्यात समालोचक श्री रामचन्द्र शुल्क एवं अज्ञेयजी के निबन्धों में भी स्वामीजी के विचारों का स्पष्ट प्रभाव दीखता है। अज्ञेयजी ने रोमाँ रोला द्वारा लिखित स्वामीजी की जीवनी का हिन्दी अनुवाद १९६८ में किया।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर की कविताओं एवं विचारों के ऊपर श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द विचार-धारा की अमिट छाप पड़ी है। दिनकर ने लिखा है '...... स्वामीजी एक संग्रामी आचार्य थे। ... वस्तुतः विवेकानन्द की रचनाएँ समग्र राष्ट्रीय चेतना एवं बंगाल के विपल्वी आन्दोलन के लिए प्रेरणा-स्रोत थो। महाभारत युग के बाद हिन्दू-धर्म की प्रचण्ड गतिशील धारणाओं को विवेकानन्द के समान और किसी ने नहीं उप-स्थित किया।"

वर्त्तमान भावधारा को शिरोधार्य करने का श्रेय फणीश्वरनाथ रेणु को जाता है। उन्होंने

अपने जीवन, दर्शन एवं साहित्य में श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द के विचारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। ये पटना रामकृष्ण आश्रम से जुटे रहे। इन्होंने स्वामीजी के विचारों को अपने आप में एक शक्तिशाली तत्व माना एवं उन्हें साहित्य में उतारने का हर सम्भव प्रयास किया। रेणुजी ने कहा, "... स्वामीजी ने हमलोगों को पुनः आत्मसम्मान की तरफ फेर दिया है। मैं पहले जो कहानियाँ लिखता था उनमें ग्रामिणों के दुःख कष्ट की बातें होती थीं। स्वामीजी ने हमलोगों को दिखा दिया कि वे लोग मनुष्य नहीं देवता हैं। साहित्य के माध्यम से आज मैं देवता की पूजा करता हूँ।"

इस प्रकार हिन्दी साहित्य का हर क्षेत्र श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द विचारधारा से प्रभावित हुआ है। यही नहीं, स्वामीजी की उत्तर भारत यात्रा ने यह सुअवसर दिया कि कई लोग उनके व्यक्तित्व की झलक पा सके। अलमोड़ा, मायावती, बनारस, बोधगया, भागलपुर, गाजीपुर आदि कई स्थानों पर स्वामीजी ने पधार कर जब यहाँ की भूमि को पवित्र कर दिया तो वहाँ के साहित्य को प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। इस कारण साधारण जन मानव के बीच में एक वैचारिक क्रान्ति ने जन्म लिया।

इसको दिशा प्रदान करने के लिए हिन्दी माध्यम की दो पत्रिकाएँ, एक रायपुर से निकलने वाली 'विवेक ज्योति' एवं दूसरी छपरा (बिहार) से निकलने वाली 'ववेक शिखा' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अन्त में हमें स्वामीजी की वह उक्ति यहाँ चरितार्थ दीखती है जो उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के बारे में कहा था, "वे शान्तिदूत थे--हिन्दू और मुसलमानों का भेद, हिन्दू और ईसाइयों का भेद--वे सब भूतकालीन हो गये हैं। श्रेष्ठता के झगड़े—वे दूसरे युग से सम्बन्ध रखते हैं। इस सत्ययुग में श्रीरामकृष्ण के प्रेम की विशाल लहर ने सबको एक कर दिया है।"

विवेक शिखा—स्थायी कोष के दाता

१.	एक भक्तिमती महिला	—	इलाहाबाद	—	३,६६० रुपये
२.	श्री प्रफुल्ल तुंगारे	—	पुणे	—	२०० रुपये
३.	श्री एस० के० चक्रवर्ती	—	इलाहाबाद	—	२७ रुपये
४.	श्री पृथ्वीराज शर्मा	—	ठण्डी, राजस्थान	—	१०० रुपये
५.	श्री दीपक श्रीवास्तव	—	पटना	—	१०१ रुपये
६.	एक शुभ चिन्तक	—	इलाहाबाद	—	२५० रुपये

स्वामी अद्‌भुतानन्द की जीवन-कथा

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द

हम आगे कह आये हैं कि लाटू महराज ने प्रायः डेढ़ वर्ष तक लगातार वराहनगर मठ में निवास किया था। इसी के दौरान (सम्भवतः १८८८ ई. के शीतकाल में) उन्हें एक बार निमोनिया हो गया था। उस समय शरत् महाराज और निरंजन महाराज ने उनकी सेवा-शुश्रूषा की थी। बीमार पड़कर भी वे प्रायः चिकित्सकों की बात नहीं मानते थे। उसी समय की एक घटना हमें शरत् महराज से सुनने को मिली है। (जिसका एक अंश 'तपस्वी-जीवन' अध्याय में वर्णित हुआ है), जो निम्नलिखित है—"डाक्टर के परामर्श के अनुसार एक दिन लाटू के कमरे में एक अंगीठी में आग सुलगाकर रख दी गयी। इस पर तुरन्त ही वह चिल्लाकर कह उठा, 'अरे बाप रे, मुझे मार डाला! जो थोड़ा सा प्राण आ रहा था, उसको भी ये लोग नहीं आने देंगे? इतनी गर्मी क्या मुझे सहन होगी? अब मैं किसी की भी बात नहीं सुनूँगा, छत पर जाकर सोऊँगा।' इस प्रकार चिल्लाकर लाटू सचमुच ही बिस्तर छोड़कर उठ गया। लाटू को कष्ट होते देखकर मैंने कमरे के दरवाजे, खिड़कियाँ आदि सब खोल दिया और निरंजन भाई से अँगीठी हटा लेने को कहा। उसके बाद मैं उसे पकड़ लाया और बिस्तर पर सुला दिया। फिर जब मैं लाटू का सिर सहला रहा था, उसने कहा, 'कमरे के दरवाजे-खिड़कियाँ फिर बन्द न कर देना भाई! नहीं तो मैं बचूँगा नहीं! आश्चर्य की बात तो यह है कि उसके बाद से ही लाटू के स्थास्थ्य में सुधार होने लगा।"

हमने जहाँ तक सुना है, उसके आधार पर कह सकते हैं कि निमोनिया रोग से छुटकारा पाने के बाद लाटू महाराज ने कोई तीन महीने भक्तपालक रामबाबू के घर में निवास किया था। वहाँ पर माँ (रामबाबू की सहधर्मिणी) की देखभाल में रह-कर लाटू महराज थोड़े ही दिनों में स्वस्थ और सबल हो उठे। इसी काल की एक बात हमें योगोद्यान के शिवराम से सुनने को मिली। वे प्रायः ही रामबाबू के घर आते रहते थे। उनका वर्णन इस प्रकार है—"लाटू महाराज के शरीर के भीतर से उन दिनों मानो एक उज्ज्वल आभा निकला करती थी। उनके दोनों नेत्र प्रायः ही अर्धनिमीलित और ओष्ठ कम्पित होते रहते। वे उन दिनों शायद ही कभी किसी के साथ वार्तालाप करते। बीच-बीच में वे गरदन टेढ़ी कर एक ऐसी मुद्रा में बैठते कि देखकर ऐसा लगता मानो वे किसी के साथ युद्ध करने को उद्यत हुए हों। सर्वदा उनकी देह पर कम्बल या चादर रहा करती थी। दोपहर भर वे धूपसेवन करते और माला लेकर बैठे रहते।"

उसी वर्ष (सम्भवतः १८८८ ई०) के फाल्गुन मास में वराहनगर मठ में समाचार आया कि योगीन महाराज भीषण चेचक से पीड़ित होकर इलाहाबाद में पड़े हैं। तुरन्त ही मठ के प्रायः सभी (केवल शशी महाराज और अद्वैतानन्दजी के अतिरिक्त) प्रयाग जाने को प्रस्तुत हुए। मठ में निवासियों की संख्या कम हो जाएगी ऐसा सोच-कर एक गुरुभाई ने लाटू महाराज को मठ में

जाकर रहने को कहा। उनकी बात पर लाटू महाराज उसी दिन रामबाबू के घर से मठ में चले आये और वहीं लगभग तीन-चार महीने निवास किया। बाद में जब मठ में पुनः स्थानाभाव हुआ तो वे बेलुड़ में माताजी के पास चले आये। माँ तब गयाधाम से लौटकर बेलुड़ में नीलाम्बर बाबू के भाड़े के मकान में निवास कर रही थीं।

नीलाम्बर बाबू के उस मकान में माताजी ने एक दिन लाटू महाराज से बाजार कर आने को कहा; उस दिन योगीन महाराज कहीं गये हुए थे। लाटू महाराज ने (बाद में) हम लोगों को बताया था—माँ की बात सुनकर मैंने कहा, 'इस समय मैं नहीं जा सकूँगा, बल्कि जाकर योगीन को बुला देता हूँ। आजकल मुझे उन सब झमेलों में पड़ने की इच्छा नहीं होती।' देखो, माँ ने मेरे मन का भाव ठीक समझ लिया, बोलीं, 'तुझे जाने की जरूरत नहीं, रहने दे तू योगीन को ही बुला दे।' ऐसे कितने ही उत्पात माँ के पास किया करता था। परन्तु माँ इस पर कभी नाराज नहीं होती थीं। माँ की सहनशीलता की क्या कोई तुलना है? इसीलिए जिस-तिस के सामने उनकी बात नहीं करता; सब लोग उसे समझ तो सकेंगे नहीं, बल्कि उल्टा समझकर सब उड़ा देंगे।"

माताजी जब नीलाम्बर बाबू के मकान से पुरीधाम चली गयीं तब लाटू महाराज पुनः वराहनगर मठ में लौट आये और चार-पाँच महीने वहीं रहे। हमने दो ऐसी घटनाएँ सुनी हैं जो इसी काल की प्रतीत होती हैं। क्योंकि इन्हीं दिनों बूढ़े बाबा (सच्चिदानन्द) मठ में आये थे। इन दो घटनाओं में एक का लाटू महाराज ने इस प्रकार वर्णन किया था—"एक दिन शशीभाई ने बूढ़े बाबा से ठाकुर को दातून देने के लिए कहा। बूढ़े बाबा को मालूम न था कि दातून कूँच कर दिया जाता है। इसीलिए वह एक बिना कूँचा हुआ दातून ठाकुरघर में दे आया। सुबह का भोग देते समय शशी भाई ने उसे देखा और बूढ़े बाबा को फटकारते हुए बोला, 'साले, आज तूने ठाकुर के मसूढ़ों से खून निकाल दिया है, आज तू ही रहेगा या मैं ही रहूँगा।' यह कहकर शशीभाई उसकी ओर दौड़ा। मैंने तुरन्त बूढ़े बाबा से कहा, 'अरे, देख क्या रहा है, जल्दी भाग?' मेरी बात सुनकर बूढ़ा बाबा भाग गया। उसे पकड़ने में असफल होने के बाद शशीभाई एक दातून खूब अच्छी तरह कूँचकर मन्दिर में दे आया। देखो, शशीभाई कैसा मनोभाव लेकर उनकी पूजा करता था?"

दूसरी घटना हम (बंगला मासिक) 'उद्‌बोधन' के अग्रहायण, १३३३ (बंगाब्द) अंक से उद्‌धृत करते हैं—"एक बार बड़ा मजा हुआ था। एक दिन सुबह जब शशी महाराज ठाकुर के प्रातःभोग के लिए हलुआ बनाने गये तो देखा कि कड़ाही गंदी पड़ी है। रात को लाटू महराज ने चना उबालकर उसे ऐसे ही रख दिया था और उसकी सफाई नहीं हो सकी थी। शशी महाराज ने देखा कि कड़ाही माँजकर हलुआ बनाने पर ठाकुर को प्रातःभोग देने में बिलम्ब हो जाएगा अतः उस दिन उन्होंने लाटू महाराज को बुरा-भला सुना दिया था। क्योंकि ठाकुर की सेवा में थोड़ी सी भी त्रुटि होने पर वे अधीर हो जाते थे। गालियाँ सुनकर लाटू महराज ने कहा, 'मैं माताजी को पत्र लिखूँगा; तुम्हारे माँ-बाप और हमारे माँ-बाप क्या अलग-अलग हैं।"

लगभग पाँच महीने मठ में बिताने के बाद लाटू महाराज पुनः माताजी के साथ भ्रमण करने को निकले। पुरी से लौटने के पश्चात् माँ कुछ दिनों के लिए बाबूराम के गाँव आँटपुर को गयी थीं। उस बार माताजी के साथ विवेकानन्द, योगानन्द, सारदानन्द, निर्मलानन्द, मास्टर महाशय, वैकुण्ठ बाबू आदि मठ के अनेक लोग वहाँ गये थे। वे लोग आँटपुर से कलकत्ता लौट आये और लाटू महाराज, काली महाराज आदि माताजी के साथ तारकेश्वर होते हुए जयरामवाटी गये। वहाँ एक सप्ताह बिताने के बाद लाटू महाराज स्वामी

अभेदानन्द के साथ ठाकुर की जन्मभूमि कामारपुकुर गये। वहाँ दोनों ने एक साथ श्रीरामकृष्ण के परिचित एवं प्रिय स्थानों का परिभ्रमण किया था। बाद में ठाकुर के सेवक श्री हृदयमुखोपाध्याय से भेंट करके दोनों कलकत्ता लौट आये।

देखते देखते १८९० ई० का वर्ष आ पहुँचा। उसी साल मठ के दो प्रमुख पृष्ठपोषकों का देहान्त हुआ। पहले तो बलराम बाबू ने इन्फ्लुएंजा रोग से देहत्याग किया, फिर उसके बाद एक माह बीतते न बीतते भक्त सुरेन्द्रनाथ मित्र ने जलोदर रोग के फलस्वरूप परलोक गमन किया। जिनकी आर्थिक सहायता से वराहनगर मठ चलता था, उन दोनों के ही रामकृष्ण-चरणों में लीन हो जाने से, मठ के गुरुभाइयों में हलचल मच गयी थी। उसी काल की दो-एक घटनाएँ बाद में हमने लाटू महाराज के मुख से सुनी थीं, जो इस प्रकार हैं—

"बलराम बाबू की बीमारी के समय में अक्सर उन्हें देखने जाया करता था; बीच-बीच में दो चार दिन वहाँ रह भी जाता था। किसी किसी दिन मैं माताजी को मास्टर महाशय के घर से (जो उन दिनों कम्बुलिया टोला में निवास करते थे) बलराम बाबू के घर ले आता। उस समय महापुरुष महाराज, निरंजन भाई और गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) ने प्राणपण से बलराम बाबू की सेवा की थी। उनकी बीमारी के दौरान राम बाबू, गिरीश बाबू, सुरेश बाबू, मास्टर महाशय, मनमोहन बाबू—ये सभी आया करते थे। जिस दिन उनका देहान्त हुआ, उस दिन उनके मुख से केवल ठाकुर की बातें ही सुनाई दे रही थीं। उस दिन उन्होंने और कोई भी बात नहीं की, समझे! ...... सुरेश बाबू की अस्वस्थता की बात सुनकर एक दिन शशीभाई मुझे साथ ले मठ से गाड़ी में उन्हें देखने गया। शशीभाई को देखकर सुरेश बाबू ने कहा, 'देख, तेरे हाथ में पाँच सौ रुपये दे रहा हूँ, तुम इन रुपयों से एक मन्दिर बना लेना।' यह सुनकर शशीभाई ने उनसे कहा, 'तू क्या कहता है, इसका कोई ठीक नहीं। पहले बीमारी से उठ जा, फिर पैसे देना। अभी तेरे रुपये मैं नहीं लूँगा।' सुरेश बाबू ने कई बार कहा पर शशीभाई ने रुपये नहीं लिये। और वे भी नीरोग नहीं हुए। सुना है कि वे रुपये वे देहान्त के पूर्व किसी के पास सुरक्षित रख गये थे, बाद में उन्हीं रुपयों से (बेलुड़ मठ के) मन्दिर में संगमर्मर बैठाया गया था। सुरेश बाबू का दिल देखा! मरते समय भी उन्हीं (ठाकुर) के काम की चिन्ता कर रहे थे। ... बलराम बाबू और सुरेन्दर बाबू के देहान्त के बाद लोरेनभाई माताजी की अनुमति लेकर जो निकल पड़ा, तो सात-आठ वर्ष बाद ही आलमबाजार (मठ) में लौटा। उस समय लोरेनभाई विलायत अमेरिका गया था। लोरेनभाई के साथ कई लोग मठ से (तीर्थभ्रमण के लिए) चले गये थे। शशीभाई वहाँ (वराहनगर मठ में) रह गया; मैं घुसुड़ी में माँ के घर चला गया।"

बलराम बाबू के देहावसान के बाद माताजी कुछ काल घुसुड़ी में रहीं। वहाँ पर माताजी के बीमार हो जाने पर भक्तगण उन्हें वराहनगर के एक किराये के (सुरेन्द्रनाथ ठाकुर के) मकान में ले आये। लाटू महराज वहाँ नहीं गये। तब वे वराहनगर मठ में रहने लगे।

हरिपद महाराज (स्वामी बोधानन्द) के संस्मरणों से पता चलता है कि १८९० ई० के अक्टूबर-नवम्बर महीनों में लाटू महाराज मठ में थे। एक लिखित नोट में वे कहते हैं—"१८९० ई० के अन्तिम काल में मैंने लाटू महराज का प्रथम दर्शन किया। उस दिन वे अस्वस्थ* थे। उनके आसन के पास दो-तीन गृही भक्त बैठे हुए थे।

* वस्तुतः यह बीमारी नहीं, अपितु ध्यानकालीन स्तब्धभाव था इस विषय पर आगे और भी कहा जाएगा।

उनमें एक वैद्य थे। उनका वास्तविक नाम मुझे याद नहीं आ रहा है, उनकी चिकित्सा में लाटू महाराज को विश्वास था, इसीलिए भक्तगण उन्हें ले आये थे। उन्होंने उनकी परीक्षा करके दवा की व्यवस्था की। परीक्षा के दौरान लाटू महाराज ने वैद्यराज के किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। लाटू महाराज उन दिनों एक विशेष भाव में रहा करते थे, किसी के साथ ज्यादा बातचीत नहीं करते थे। उस दिन मेरे रहते ही एक संन्यासी एक कटोरी में झोल या दाल के समान कुछ पथ्य ले आये और लाटू महाराज को देते ही उन्होंने अति अल्प समय में ही उसे उदरस्थ कर लिया। जल्दबाजी में पीने के कारण पथ्य का कुछ भाग उनके कपड़े पर गिर पड़ा और कुछ-कुछ मुख के चारों ओर लग गया। उनका ऐसा असभ्य आचरण मेरे लिए काफी काल तक एक पहेली बना रहा। अस्तु, थोड़ी देर बाद उन्हें प्रणाम करके उस दिन मैंने उनसे विदा ली। फिर उनके साथ मेरी दूसरी भेंट कलकत्ता के मधुराय लेन में स्थित रामचन्द्र दत्त के मकान पर हुई थी।"

इसी काल की एक और घटना है। इसे स्वामी तुरीयानन्दजी ने इस प्रकार बताया था—"स्वामीजी लोग एक-एक कर मठ से निकलकर तपस्या करने चले गये, यह देखकर मन में आया कि क्यों न मैं भी कुछ दिन बाहर जाकर साधुसंग कर आऊँ! मन में संकल्प-विकल्प चल ही रहा था कि अचानक मानो किसी ने कहा, 'अरे, ऐसे साधु को छोड़कर कहाँ जाएगा?" सामने निगाह गयी तो देखता हूँ कि लाटू महराज अपने शरीर को एक चादर से ढककर लेटे हुए ध्यान कर रहे हैं। तुरन्त मेरे मन में आया, सच ही तो, ऐसे साधु को छोड़कर मैं कहाँ भटकूँगा! उसी समय लाटू महाराज ने भी मेरी ओर उन्मुख होकर कहा, 'इधर-उधर कहाँ घूमोगे! उससे अच्छा यहीं रहकर जपध्यान करो न।' उस बार मेरा मठ से निकलना नहीं हो सका।"

एक और भी प्रसंग हमें तुरीयानन्द स्वामी से ही सुनने को मिला था। हमें इतना ही मालूम है कि यह प्रसंग वराहनगर मठ का है, पर इसका काल हमें ठीक ज्ञात नहीं। उन्होंने बताया था—"एक दिन मैं एक भक्त के साथ ईश्वर विषयक चर्चा करते समय कह गया कि उनमें भेदभाव और क्रूरता आदि दोष नहीं हैं। लाटू महाराज उस समय चुपचाप मेरी बातें सुन गये। फिर उस व्यक्ति के चले जाने पर वे बोले, 'तुम लोगों का भाव तो बड़ा अच्छा है, ईश्वर मानो एक बच्चे के समान है और तुम लोग माँ के समान उसे बचाकर रखने का प्रयास कर रहे हो।' उनकी बात सुनकर मैं उत्साहपूर्वक अपने पक्ष की युक्तियाँ दिखाते हुए बोला, 'भगवान यदि जो मन में आया, वही करते हों, तो फिर वे एक स्वेच्छाचारी शासक हुए। वे क्या रूस के जार के समान स्वेच्छाचारी हैं? वे तो न्यायवान, दयालु और मंगलमय हैं।' यह सुनकर लाटू महराज बोले, 'अच्छा है, तुम अपने भगवान की उन सब दोषों से रक्षा कर रहे हो, पर यह तो मानोगे ही कि वे रूस के जार जैसे स्वेच्छाचारी को भी चला रहे हैं।' देखो! उन्होंने कैसी अद्भुत मीमांसा कर दी। यह बात मेरे मन में बैठ गयी।"

वराहनगर मठ की एक और घटना है। यह घटना शरत् महाराज द्वारा वर्णित और श्रीयुत महेन्द्रनाथ दत्त द्वारा प्रकाशित हुई है, जो निम्न-लिखित है—"एक दिन मठ के बड़े कमरे में शिवानन्द महाराज किन्हीं दो लोगों के बारे में कटाक्षपूर्वक कुछ कहते हुए हँसी कर रहे थे। बीच की दो-एक बातें सुनने के बाद लाटू महाराज ने कहा, 'देखो शरत्! मैंने तो पहले ही कह दिया था कि वे साले मौसेरे मौसेरे चोर भाई हैं।' यह बात सुनते ही सभी जोरों से हँस पड़े और बाद में इसी बात को लेकर लाटू महराज को चिढ़ाने लगे।"

१८९१ ई० के ज्येष्ठ मास में भक्तपालक

रामचन्द्र दत्त को बड़ी भीषण बीमारी हुई। इसके पन्द्रह दिन बाद अर्थात् आषाढ़ के प्रारम्भ में वे राम बाबू के घर आये और पूजा के बाद तक वहीं निवास किया। बीच-बीच में वे दो-चार-दस दिन के लिए इधर-उधर चले जाते थे, परन्तु वहाँ से फिर रामबाबू के यहाँ ही लौट आते। उसी काल की दो-एक बातें ज्ञात हुई है!

एक दिन राम बाबू के घर लाटू महाराज स्वगत में कह रहे थे, मन मिले तो मेला, चित्त मिले तो चेला, सबसे भला अकेला।' (अर्थात् यदि समान मन के हों तो बहुत से लोग साथ रह सकते हैं, अगर चित्त मिले तो शिष्य को साथ रखा जा सकता है, परन्तु अकेले रहना ही सर्वोत्तम है।)- उसी समय वृद्ध किशोरी बाबू (जिन्हें स्वामी विवेकानन्द अब्दुल कहते थे) आ पहुँचे। हाल ही में वृद्ध किशोरी बाबू की पत्नी का देहान्त हुआ था। बीच-बीच में वे राम बाबू के घर आकर उनके साथ भगवत्चर्चा करते थे। किशोरी बाबू और राम बाबू दोनों ही लीलावादी थे और परमहंसदेव को अवतार कहते थे। किशोरी बाबू ने बताया था "राम बाबू के घर लाटू के मुख से वह बात सुनकर मैंने पूछा था, 'संसार में अकेले रहना तो नहीं चलता।' इसके उत्तर में लाटू ने कहा, 'संसारी लोगों का नहीं चलता, परन्तु संन्यासी लोगों के लिए तो अकेले-अकेले ही रहने का नियम है।"

उसी काल की एक बात हरिपद महाराज ने इस प्रकार लिखी है 'सम्भवत: १८९१ ई० के बीचोबीच मेरी लाटू महाराज से द्वितीय बार मुलाकात हुई। उस समय वे राम बाबू के घर के नीचे के तले के एक कमरे में एक तख्त पर सोये हुए थे। उस दिन मैं उनके लिए एक कम्बल ले गया था। कम्बल पाकर वे आनन्दित हुए। उस दिन उनके साथ (धर्मविषयक, बहुत सी बातें हुईं। लाटू महाराज की शिशुवत् सरलता और उनकी ज्ञान-भक्तिपूर्ण बातों पर मैं मुग्ध हो गया। मेरे बारम्बार विदा लेने की इच्छा व्यक्त करने पर उन्होंने प्रति बार अत्यन्त हार्दिकतापूर्वक थोड़ा और बैठने का अनुरोध किया था। उस अनुरोध की उपेक्षा कर विदा लेने की क्षमता मुझमें तो क्या किसी में भी न थी। इसी प्रकार तीन-चार घण्टे बीत जाने के बाद सन्ध्या हो जाने पर उन्होंने मुझे थोड़ा सा कुछ खिलाकर तब विदा किया।"

(क्रमशः)

विवेक चूड़ामणि

भाष्यकार—स्वामी वेदान्तानन्द
अनुवादक—डा० आशीष बनर्जी, वाराणसी

अहं ज्ञान के आश्रय शुद्ध आत्मा के स्वरूप वर्णन की समाप्ति करते हैं—

> प्रकृति विकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः
> सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः ।
> विलसति परमात्मा जाग्रदादिस्ववस्था-
> स्वहमहमिति साक्षात् साक्षिरूपेण बुद्धेः ॥१३५॥

कारण एवं कार्य से भिन्न, शुद्ध ज्ञानस्वरूप निर्विशेष परमात्मा अखिल स्थूल एवं सूक्ष्म जगत को प्रकाशित कर बुद्धिवृत्ति के साक्षीरूप में जागृतादि तीन अवस्था में ही 'मैं, मैं' करता हुआ स्वयं को प्रकाशित कर मानो लीला कर रहा है ॥१३५॥

निष्क्रिय आत्मा बुद्धि के विलास के साक्षी रूप में स्थित है। श्रुति में कहा गया है, "कतम आत्मा इति ? योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः समानः सन्नुभौ लोकावनुसचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ।" वृ ॥४।३।७॥

"(जनक पूछते हैं)—'आत्मा कौन है ?' (याज्ञवल्क ने उत्तर दिया)—'यह जो बुद्धि में उपहित, इन्द्रियों में अवस्थित, एवं बुद्धि के अन्दर स्वयंज्योतिः पुरुष है। वह बुद्धि के समान आकार ले इस लोक एवं परलोक में विचरण करता है, एवं मानो ध्यान करता है एवं सचल होता है; क्योंकि वह स्वप्न में अपहित होकर (अविद्या के परिणाम स्वरूप यह जाग्रत कालीन) जगत को अतिक्रम कर जाता है।' आत्मा में क्रिया न करने पर भी बुद्धि सादृश्य वश उसमें क्रिया आरोपित होती है। इस प्रकार बुद्धि के साथ तादात्म्यवश आत्मा का स्वप्न एवं जागरण होता है।

जीव का सब कार्य बुद्धि द्वारा अनुष्ठित होता है; नित्यमुक्त आत्मा उन सबके साक्षी रूप में विराजमान रहता है।

आत्मसाक्षात्कार का उपाय एवं फल –

> नियमितमनसामुं त्वं स्वमात्मानमात्म-
> न्ययमहमिति साक्षात् विद्धि बुद्धिप्रसादात् ।
> जनिमरणतरङ्गा पार संसार सिन्धुं
> प्रतर भव कृतार्थो ब्रह्मरूपेण संस्थः ॥१३६॥

तुम संयतचित्त एवं शुद्धबुद्धि की सहायता से अपनी देह में (इस जीवन में) पूर्ववर्जित आत्मस्वरूप को 'यह शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष स्वरूप का अनुभव कर एवं इसके फलस्वरूप जन्म-मरण तरंगाकुल अपार संसार सागर को पार करो एवं ब्रह्म में स्थिति लाभ कर कृतार्थ हो जाओ। ॥१३६॥

"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" छा, २।२३।१ "ब्रह्म संस्थःअमृतत्वलाभ करता है।"

स्वरूपतः हम ब्रह्म से अभिन्न हैं, परन्तु अज्ञान के प्रभाव से हम स्वयं को छोटा एवं भिन्न समझते हैं।

बंधन क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं-

> आत्रानात्मन्यहमिति मतिर्बन्ध एषोऽस्य पुंसः
> प्राप्तोऽज्ञानाज्जननमरय क्लेश सम्पात हेतु ।
> येनैवायं वपुरिदमसत्सत्स मित्यात्मबुद्धया
> पुष्यत्युक्ष्त्यवति विषयैस्तन्तुभिः कोशकृद्वत् ॥१३७।

इस अनात्म देहादि में 'मैं' ज्ञान ही बन्धन है। अज्ञान से उद्भूत यह बंधन ही पुरुष के जन्म-मरण रूप क्लेश प्राप्ति का कारण है। इस अज्ञान के वशीभूत पुरुष अनित्य देह को 'सत्य ही यह देह मैं

है' ऐसा जान कर विभिन्न भोग्य विषयों के द्वारा देह का पोषण, मार्जन एवं पालन करता है; रेशम का कीड़ा जिस प्रकार परिश्रम कर रेशम उत्पादित कर स्वयं के मृत्यु का कारण प्रस्तुत करता है ।१३७।

जीवित रहने की इच्छा होने पर जिस प्रकार रेशम के कीड़ों को अत्यधिक परिश्रम द्वारा रेशम का त्याग करना पड़ता है, उसी प्रकार मुक्तिकाम पुरुष को यत्नपूर्वक देह के प्रति 'मैं और मेरा' का अहंकार त्याग करना पड़ता है ।

अज्ञान वश जो जैसा नहीं है उसे वैसा समझने से जो दुःख होता है उसका दृष्टान्त देते हैं—

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेकाभावद् स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा ।
ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिक-
स्ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः श्रृणु सखे ॥
॥१३८॥

अज्ञानाच्छन्न व्यक्ति को 'जो जैसा नहीं है उसे वैसा समझना, इस प्रकार का भ्रम होता है। विवेक के अभाववश सर्प में रज्जु का भ्रम हो सकता है। इस भ्रम के वशीभूत व्यक्ति यदि रज्जु को ग्रहण करें तो अनेकों विपदाओं का सामना करना पड़ेगा। अतः हे मित्र सुनो, मिथ्या ग्रहण ही बन्धन है। १३८

भ्रमज्ञान ही बन्धन है, ऐसा कहा गया। अब, बन्धन कहाँ से आया, इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है।

अखण्ड नित्या द्वय बोध शक्त्या
स्फुरन्तमात्मानमनन्त वैभवम् ।
समावृणोत्यावृत्ति शक्तिरेषा
तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम् ॥१३९॥

यह तमोमयी आवरण शक्ति अखण्ड-नित्य-अद्वय, चैतन्य स्वरूप के द्वारा प्रकाशमान अनन्त प्रभावशाली आत्मा को राहु जिस प्रकार सूर्यमण्डल को आच्छादित करता है—उसी प्रकार आवृत करता है ॥१३९॥

सूर्यमण्डल के ऊपर पड़ने वाली छाया अत्यन्त तुच्छ होने पर भी पूर्ण ग्रहण के समय ऐसा लगता है मानो सूर्य है ही नहीं। सूर्य प्रकाशमान रहते हुए भी ऐसा लगता है मानो, सूर्य किरणें नहीं बिखेर रहा है। इसी प्रकार माया की आवरण शक्ति के द्वारा आवृत होने के कारण आत्मस्वरूप हमारे निकट प्रकाशित नहीं होता ।

तिरोभूते स्वात्मन्यमलतरतेजोवति पुमा-
ननात्मानं मोहादहमिति शरीरं कलयति ।
ततः काम क्रोधप्रभृतिभिरमुं बन्धन गुणैः
परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्तिर्व्यथयति ॥१४०।

अतिनिर्मल स्वयं का आत्वस्वरूप अज्ञान द्वारा आवृत होने पर पुरुष मोहवश अनात्म देह को 'मैं' जानकर भ्रमित होता है। पुरुष इस भ्रम के वशीभूत होने पर रजोगुण के विक्षेप नाम की बलवती शक्ति उसे काम-क्रोधादि के बंधन से बांध कर अत्यन्त दुःख प्रदान करता रहता है ।१४०॥

महामोहग्राह ग्रसन गलितात्मावगमनो
धियो नानावस्थाः स्वयमभिनयंस्तद्गुणतया ।
अपारे संसारे विषयविषपूरे जलनिधौ
निमज्ज्योन्मज्ज्यायं भ्रमति कुमति कुत्सितगतिः ।

इस निन्दित-दुःखफलभागी भ्रान्त पुरुष, मूल अज्ञान के द्वारा आत्म स्वरूप का ज्ञान नष्ट हो जाने के कारण बुद्धि की विभिन्न अवस्थाओं एवं गुण समूह को अपना जान कर, स्वयं बुद्धि के कार्य समूह का अभिनय करता रहता है एवं विषय विष से पूर्ण अपार संसार सागर में कभी डूबता है तो कभी उतराता है ॥१४१॥

स्वामी विवेकानन्द प्रसंग

रॉबर्ट इंगरसॉल अमेरिका के प्रसिद्ध नास्तिक और प्रभावी वक्ता थे। एक बार उनकी स्वामी विवेकानन्द से भेंट हुई। उन्होंने जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी से कहा, "मैं इस दुनियाँ को एक सन्तरे की तरह मानता हूँ और इसे अधिक से अधिक निचोड़कर रस पाने में ही विश्वास करता हूँ, क्योंकि हमारे पास जो कुछ है: वह यह दुनियाँ ही है।" इस पर स्वामीजी उत्तर देते हुए बोले, "मैं दुनियारूपी इस सन्तरे को तुमसे अधिक अच्छी तरह निचोड़ना जानता हूँ और मुझे अधिक रस मिलता है। मैं जानता हूँ कि मैं मर नहीं सकता, इसलिए मैं जल्दबाजी नहीं करता। मैं जानता हूँ कि भय नाम की कोई चीज नहो है, इसलिए निचोड़ने में मैं मजा लेता हूँ। मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है, दारा-सुत-सम्पत्ति का कोई बन्धन नहीं है, अत: सभी नर-नारियों को मैं अपना प्यार दे सकता हूँ। हर कोई मेरे लिए ईश्वररूप है। मनुष्य को ईश्वर के रूप में प्यार करने के आनन्द की बात जरा सोचो तो ! अपने सन्तरे को इस तरह निचोड़ो और दस हजार गुणा अधिक रस प्राप्त करो। उसकी हर बूंद पा लो।,'

स्वामी विवेकानन्द तब बेलुड़ मठ में थे। अचानक एक रात उनकी नींद टूट गयी। वे अपने कमरे से बाहर आये और गंगा की ओर के बरामदे पर टहलने लगे। बाजू के कमरे में स्वामी विज्ञानानन्द थे। स्वामीजी के टहलने की आवाज से उनकी भी नींद टूट गयी। वे भी अपने कमरे के बाहर आये। स्वामीजी का चेहरा अत्यन्त गम्भीर था। विज्ञानान्दजी ने उनसे पूछा, "क्या बात है, नींद नहीं आ रही है ?" स्वामीजी बोले, "पेशन, मेरी नींद आचानक टूट गयी। मुझे ऐसा लग रहा है कि कहीं दुर्घटना हो गयी है, जिसमें बहुत से लोग मारे गये हैं। मेरा हृदय उनके दु:ख से बड़ा व्यथित हो गया है: सो नहीं पा रहा हूँ।"

विज्ञानानन्दजी को लगा कि ऐसा भी क्या सम्भव हो सकता हैं ? पर जब सुबह अखबार देखा गया तो उसमें पिछली रात जापान के समीप किसी द्वीप में भूकम्प के कारण बहुत से लोगों के मारे जाने की खबर थी। भूकम्प का समय वहीं था, जब स्वामीजी की नींद टूट गयी थी और वे सो न सके थे।

विज्ञानान्दजी यह घटना सुनाते हुए, कहा करते थे, "देखो, स्वामीजी के हृदय में कितनी करुणा थी, लोगों का दु:ख-दर्द उन्हें कैसा द्रवित कर देता था ! उनका हृदय तो मानो 'सिस्मोग्राफ' (भूकम्प नापने वाखा यंत्र) बन गया था ! परदु:खकातरता ही स्वामीजी की विशेषता थी।"

स्वामी विवेकानन्द को अपने परिव्रजनकाल में ऐसे कई अवसर आये, जो जोखिम और कठिनाइयों से भरे थे, जब वे निविड़ बन में नितान्त अकेले भटक रहे थे। उनके साथ श्रीरामकृष्ण का एक फोटो तथा गीता की येक प्रति छोड़ और कुछ न होता। मध्य भारत में उन्हें कई बार कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, जब वहाँ के लोगों ने उन्हें भोजन और शरण देने में मनाही कर दी। यह उसी समय की बात है, जब वे एक भंगी परिवार के साथ रहे। तब उन्हें उन लोगों के भीतर अमूल्य मानवीय गुणों और सम्भावनाओं को देखने परखने का मौका लगा था, जो समाज के द्वारा परित्यक्त और उपेक्षित थे। ऐसे ही अनुभवों और सम्पर्कों ने स्वामीजी को देश की दुर्दशा का प्रत्यक्ष ज्ञान कराया था और उन्हें लाखों पददलित और उत्पीड़ित देशवासियों का मसीहा बनाया था। यही वह छटपटाहट थी, जिसने आत्मद्रष्टा विवेकानन्द को राष्ट्रद्रष्टा युगाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

नागरिकता विषयक एक विलक्षण ग्रंथ

प्रबुद्ध नागरिकता

प्रकाशक : रामकृष्ण मिशन, रामकृष्ण मिशन मार्ग, नयी दिल्ली --११००५५
पृष्ठ : ४५९. प्रथम संस्करण, जुलाई १९८९ मूल्य : साधारण —४५ रुपये, सजिल्द—७५ रुपये

वर्तमान भारत में नैतिक मूल्यों में जैसी गिरावट आयी है, राष्ट्रीय चरित्र का जैसा पतन हुआ है, सामाजिक
एवं वैयक्तिक आचरण और कर्मशैली में जैसी चिन्तनीय भ्रष्टता आयी है उससे किसी भी सचेतन एवं संवेदनशील नागरिक
का चिन्तित हो उठना स्वाभाविक है। मिलावटी आहार, मृत्यु-मन्दिर सरीखे अस्पताल, शिक्षा एवं शिष्टता-शून्य
शिक्षण संस्थाएँ, लूट-खसोट, हिंसा, आतंक, हड़ताल, जुलूस, नारे, कल की अपेक्षा आज ही येन-केन-प्रकारेण धनी
हो जाने की उदग्र आकांक्षा में उन्नत युव जन—कुछ ऐसी ही तस्वीर वर्तमान भारत की उभरती है हमारी आँखों
के सामने।

आखिर कारण क्या है इनका? राष्ट्रसंघ के मानव अधिकारों का घोषणा-पत्र हो या हमारा संविधान,
सर्वत्र अधिकारों और सुविधाओं पर अधिक बल दिया गया है, कर्त्तव्य-चेतना, सहभागिता, सेवा और त्याग की
भावना को उपेक्षित या गौण कर दिया गया है। स्वभावत: हमारे राष्ट्र का स्वास्थ्य गिर गया है।
हम भारत के मात्र निवासी होकर रह गये हैं। हम भारत के मात्र एक निपट नागरिक हैं प्रबुद्ध नागरिक
नहीं। हमें प्रबुद्ध नागरिक होना होगा। तभी भारत का उद्धार और अपने देवत्व का श्रृंगार हो सकेगा।

किन्तु प्रबुद्ध नागरिकता क्या है, उसके लक्षण क्या हैं, हम प्रबुद्ध नागरिक कैसे बन सकते हैं—इन सब
महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के लिए रामकृष्ण मिशन की नयी दिल्ली शाखा ने अर्थशास्त्र, शिक्षा, पत्रकारिता,
विधि, धर्म, विज्ञान आदि क्षेत्रों से जुड़े देश के प्रख्यात विद्वानों और सुधी चिंतकों की एक संगोष्ठी आयोजित की थी।
२७ अप्रैल, १९८० से ३ मई १९८१ के मध्य इस संगोष्ठी में कुल पन्द्रह व्याख्यान हुए थे। उक्त संगोष्ठी में दिये
गये सारगर्भित एवं सुचिन्तित विचारों का ही ग्रन्थाकार रूप है—"प्रबुद्ध नागरिकता"।

'प्रबुद्ध नागरिकता' पुस्तक दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में महान धर्म-ग्रन्थों और विश्वविख्यात
विचारों के उद्धरण हैं। उपनिषदें, भगवद्गीता, रामायण, महाभारत भागवत, मनुस्मृति, तिरुक्कुरल, शुक्रनीति,
नीतिशतक, गुरुनानक, श्रीरामकृष्ण, श्री शारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी, भगवान
बुद्ध, अशोक के शिलालेख, जैन सूत्र, लाउट्से, कनफ्यूशियस, सुकरात, बाइबिल और कुरान शरीफ के ऐसे प्रेरक वचन
और विचार उद्धृत हैं जो हमें प्रबुद्ध नागरिक बनने में प्रकाशस्तंभ का कार्य करते हैं।

दूसरे भाग के प्रारंभ में रामकृष्ण मिशन, नयी दिल्ली के पूर्व मंत्री स्वामी बुधानन्द के 'प्रबुद्ध नागरिकता पर
कुछ विचार' दिये गये हैं जो बड़े ही लाभदायक और ज्ञानवर्द्धक है।

रामकृष्ण मठ, हैदराबाद के अध्यक्ष और विश्वविख्यात चिन्तक, वाग्मी और वेदान्त के व्याख्याता श्रीमत्
स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज का उद्घाटन व्याख्यान अपने आप में 'प्रबुद्ध नागरिकता' पर एक पूर्ण विचार है।
एकमात्र यह व्याख्यान भी लोगों को प्रबुद्ध नागरिकता विषयक चिंतन के इतिहास को समझने में यथेष्ट सहायता
प्रदान करने में सक्षम है। डिमाई साइज के कुल ७२ पृष्ठों में मुद्रित यह व्याख्यान एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में
प्रकाशित हो तो सामान्य नागरिकों को बड़ा लाभ मिलेगा।

दिल्ली के आर्च बिशप आंगेलो फर्नांडिस, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश डॉ० नगेन्द्र सिंह, के अतिरिक्त
के० आर० नारायण, न्यायाधीश वी० आर० कृष्ण अय्यर, वी० जी० वर्गीस, श्री टी० एन० चतुर्वेदी, डा० राजारमण्णा,
न्यायाधीश वाइ० वी० चन्द्रचूड़ आदि के व्याख्यान बड़े ही सुचिन्तित, प्रेरक और आत्म प्रकाशक हैं।

मूल पुस्तक 'Enlightened Citizenship' के नाम से छपी थी। प्रस्तुत पुस्तक उसी का हिन्दी रूपान्तरण है।
अनुवाद किया है सु० रामचन्द्र, अतिथि अध्यापक, हिन्दी भवन, गुजरात विद्यापीठ ने। अनुवाद की भाषा सरल सुबोध
है। किन्तु प्रूफ पढ़ने में सावधानी की कमी के कारण भयंकर भूलें हो गयी हैं जो इतनी महत्वपूर्ण पुस्तक के लिए
शोभादायक नहीं है। 'अनुवादक का निवेदन' में सर्वत्र रामकृष्ण की जगह रामकृष्म छप गया है जो कष्टप्रद है। भूमिका
में भी कतिपय अशुद्धियाँ रह गयी हैं। फिर भी हिन्दी में नागरिकता विषयक इतनी उत्तम पुस्तक का प्रकाशन कर
रामकृष्ण मिशन, नयी दिल्ली के सचिव स्वामी गोकुलानन्दजी महाराज ने हिन्दी भाषी नागरिकों का बड़ा उपकार
किया है। तदर्थ मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

हिन्दी के प्रत्येक जागरूक पाठक से मैं आशा करूँगा कि वे 'प्रबुद्ध नागरिकता' का एक बार अवश्य
ही गंभीरतापूर्वक अध्ययन करेंगे।

—केदार नाथ लाभ